Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 16 अंक 1 जनवरी, 2002

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सह सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा : सरला कल्ला

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 16 अंक 1 जनवरी, 2002

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सह सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा : सरला कल्ला

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

परामर्शदाता

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद - 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर - 302004
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल- 462003
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली - 110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर - 302015
   दूरभाष 515693
2. मुकुन्द लाठ, ए37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर 302006
   दूरभाष 294737 / 293725

सहायक-संपादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर - 470003 (म. प्र.)
2. (सुश्री) सरला कल्ला, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर 302004
   दूरभाष 200297

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 40/-
संस्थाएं — रु. 60/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 400/-
संस्थाएं — रु. 4000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेज़र कंपोजिंग तथा कमल प्रिन्टर्स, जयपुर में मुद्रित।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनुक्रमणिका

1.	दार्शनिकों के तर्क न प्रत्यक्ष न अनुमान न शब्द न उपमान	— दयाकृष्ण	1
2.	जगत्-चिन्तन	— यशदेव शल्य	17
3.	कला चिन्तन का इतिहास और कला : एक विमर्श	— मुकुन्द लाठ	35
4.	ईश्वर के अस्तित्व का साम्प्रत्ययिक प्रमाण	— नारायण शास्त्री द्राविड़	71
5.	बाह्यार्थवादी बौद्धसम्मत ख्याति-विचार	— अम्बिकादत्त शर्मा	79
6.	स्फोटसिद्धान्त की अर्वाचीन संवाद-परम्परा	— रमाकान्त पाण्डेय	91

पुस्तक समीक्षा

प्रो. विश्वम्भर पाहि का नव्य वैशेषिक दर्शन 113

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सूचना एवं निवेदन

1. उन्मीलन के पिछले अंक से हमने लेखकों को मानदेय देने का निर्णय किया है।

2. उन्मीलन में हम प्राचीन दार्शनिक विचारों का विवरण प्रस्तुत करने वाले लेखों की अपेक्षा परंपरा को आगे बढ़ाने वाले लेखों को वरीयता देते हैं।

3. लेखकों से निवेदन है कि वे पुस्तकों के नाम लेख में या पादटिप्पणी में सर्वत्र रेखांकन के साथ दें।

4. पांडुलिपि यदि हस्तलिखित हो तो वह सुपाठ्य अक्षरों में होनी चाहिए, टंकित हो तो संशोधित की होनी चाहिए। उद्धरण विशेष रूप से शुद्ध और सुपाठ्य होने चाहिएं।

संपादक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दार्शनिकों के तर्क न प्रत्यक्ष न अनुमान न शब्द न उपमान

दयाकृष्ण

दार्शनिक चिन्तन बुद्धिनिष्ठ है ओर उसका केन्द्रबिन्दु तर्क है। तर्क के सहारे ही दार्शनिक चिन्तन बढ़ता और पनपता है। लेकिन तर्क के स्वरूप को शायद उस तरह से समझा नहीं गया है जैसे उसे समझना चाहिए। तर्क न अनुमान है न प्रत्यक्ष, न शब्द है, न उपमान, और न उसमें प्रमाण है, उस अर्थ में जिस अर्थ में 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तर्क क्या है और दार्शनिक चिन्तन में वह अपने किस रूप में प्रकट होता है, जब तक हम इसको नहीं समझेंगे तब तक 'दर्शन' को शायद ही समझ पायेंगे। दर्शन के इतिहास को लें तो उसमें तर्क के अनेक रूप मिलते हैं, जिन पर अगर ध्यान से सोचें तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहेगा। उदाहरण के लिए पश्चिमी दर्शन के इतिहास के प्रारम्भ में दो तर्क मिलते हैं जिनको तर्क कहना साधारण आदमी को ही नहीं बल्कि विद्वानों को भी बहुत अजीब लगेगा।

पहला तर्क कुछ इस प्रकार का है—'अगर 'सत्' है और देश है तो वह सर्वव्यापक होगा ही। ऐसे रिक्त स्थान की कल्पना करना जहाँ वह नहीं है, असंम्भव है। और अगर कोई रिक्त स्थान है ही नहीं तो न अनेकता हो सकती है न गति। लेकिन हमें अनेक अलग-अलग पदार्थ दिखाई देते हैं और परिवर्तन और गति भी सबको सहज रूप में दिखायी देती है। तब यदि हमारा तर्क ठीक है तो यह जो प्रत्यक्षानुभूत होता है वह असत् है, यानि सत्य हो ही नहीं सकता। गति और नानात्व असंभव हैं, चाहे आपको वे कितने ही वास्तव लगें।' यह तर्क पारमेनिडीज़ के नाम से जोड़ा जाता है। लेकिन तर्क अपने आप में स्वतन्त्र है, उसको किसी के नाम से जोड़ने की ज़रूरत नहीं है। इस तर्क पर चिन्तन करने पर दर्शन के स्वरूप का आपको कुछ आभास मिलेगा, चाहे वह कितना ही 'क्षीण' क्यों न हो।

इसी तरह का एक अन्य तर्क ज़ीनो के नाम से सम्बन्धित है। वह तर्क भी अजीब प्रकार का है। उस तर्क के अनेक रूप हैं लेकिन उसके एक रूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गति का अर्थ है—"वहाँ होना जहाँ वह नहीं है, क्योंकि यदि कोई चीज़ वहीं है जहाँ वह है तो उसे गतिशील नहीं कहा जा सकता। लेकिन कोई चीज़ वहाँ हो ही नहीं सकती जहाँ वह नहीं है, और अगर ऐसा हो ही नहीं सकता तो गति असंभव है।"

ऐसा नहीं है कि इस प्रकार के तर्क पश्चिम में ही मिलते हैं। जहाँ भी दर्शन है वहाँ इस प्रकार के तर्क मिलते हैं। भारत में ही लीजिए, यहाँ क्या ऐसे तर्कों की कमी है? "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" **गीता** की यह प्रसिद्ध उक्ति गीता से पहले हज़ारों बार दोहराई जा चुकी थी। जो सत् है वह कभी असत् नहीं होता और जो असत् है वह कभी सत् नहीं हो सकता। इसलिए अगर किसी को ऐसा अनुभव होता है कि जो था अब नहीं है, या जो नहीं था वह अब विद्यमान है, तो वह भ्रम में है, उसका ज्ञान मिथ्या है। पर ऐसा मानने पर तो सारा अनुभव, सारा जगत्, जो कुछ भी हम देखते हैं, सुनते हैं, सब असत् कहा जायेगा। किन्तु तर्क देने वाले को और सुनने वाले को इससे कोई मतलब नहीं। उसने तो कह दिया "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" और उसके कहने के बाद हज़ारों लोग इसको दोहराते हैं, विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं और समझते हैं कि वे उनको कोई उच्च कोटि का ज्ञान दे रहे हैं। इसी का एक अन्य रूप लीजिए, वह भी भारतीय दर्शन में अनेक रूप लेकर अनेक बार मिलता है। "जो नित्य है, शाश्वत है, चिरन्तन है वही सत् है, जो अनित्य, परिवर्तनशील है, क्षणभंगुर है, वह असत् है, मिथ्या है, दोषपूर्ण है, हेय है, त्याज्य है।", यह बात बौद्धों के लिए उतनी ही सत्य है जितनी उनके लिए जो बौद्ध नहीं कहे जाते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'निर्वाण' की तलाश किसे होती? संसार से बुद्ध और उनको मानने वाले लाखों करोड़ों लोग विमुख क्यों होते ?

इस प्रकार का तर्क और चिन्तन साधारणतः 'अद्वैत' के नाम से जुड़ा है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। नित्य और अनित्य के भेद की बात वात्स्यायन अपने **न्यायभाष्य** में करते हैं और न्याय दर्शन में तो नित्य पदार्थों की अलग से चर्चा भी है, सांख्य में भी नित्य पुरुष और प्रकृति की बात है और इसी प्रकार दूसरे दर्शनों में भी है। लेकिन जहाँ भी भेद के संदर्भ में मिथ्या ज्ञान की चर्चा की गयी है वहाँ केवल एक ही प्रकार के नित्य ज्ञान को सत्य माना गया है और वह आत्मा सम्बन्धी ज्ञान है। बाकी नित्य पदार्थों को मानने वाले दर्शनों में उनके ज्ञान विशेष के सम्बन्ध में उन्हें न कोई रुचि है, न उनके सम्बन्ध में मिथ्या ज्ञान के बारे में कोई परेशानी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

तर्क का एक और रूप लें जो भारतीय परम्परा में भी मिलता है और पश्चिमी परम्परा में भी—जो कुछ भी हम जानते हैं वह एक ओर तो इन्द्रिय-सापेक्ष होता है और दूसरी ओर बुद्धि-सापेक्ष और तीसरी ओर वह उस विषय या वस्तु से सम्बन्धित होता है जिसके बारे में वह ज्ञान कहलाता है। अब अगर ऐसा है तो विषय या वस्तु का जो अपना स्वरूप है वह हमारी इन्द्रियों और हमारी बुद्धि से स्वतन्त्र रूप में कभी जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि हमारे पास उसको ऐसा जानने का कोई साधन ही नहीं हो सकता। इस प्रकार जो विषय या वस्तु का जो 'स्व-रूप' है वह कभी जाना ही नहीं जा सकता, क्योंकि 'जानने' का अर्थ ही यह है कि वह अपने-आप में 'ज्ञान-सापेक्ष' है। यह बात पश्चिमी दर्शन में कान्ट के नाम से जुड़ी है और एक अन्य प्रकार से लॉक के नाम से। लॉक इसको इस प्रकार से रखता है कि जो भी ज्ञान हो वह केवल 'गुण-मात्र' का ही हो सकता है और जो गुणों का आधार है उसका अपना ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके ज्ञान का अर्थ ही यह होगा कि हम उसको उस रूप में जानें जैसा वह उन गुणों से पूर्णतः स्वतन्त्र रूप से है। लॉक ने इसको अपनी प्रसिद्ध उक्ति 'नो-नॉट व्हट' कहकर बताने की कोशिश की थी और यही बात कान्ट ने 'थिंग इन इट्सेल्फ' कहकर कहने की कोशिश की।

इसी का एक अन्य रूप अद्वैत वेदान्त में मिलता है जहाँ उसको 'सोपाधिक' और 'निरुपाधिक' ज्ञान कहकर बताने के कोशिश की गयी है और यह कहा गया है कि जो भी सोपाधिक है वह ऐसा होने से ही मिथ्यात्व का रूप लेता है। कान्ट, लॉक और शंकर में भेद ज़रूर है पर तर्क की दृष्टि से देखें तो गहरा साम्य भी है, और तीनों एक सीधा-साधा सवाल अपने से नहीं पूछते। वह सवाल यह है कि मनुष्य का ज्ञान कैसे होता है? शरीर का ज्ञान कैसे होता? इन्द्रियों का ज्ञान कैसे हाता है? बुद्धि का ज्ञान कैसे होता है? और अगर यह भी 'ज्ञान' है तो उस ज्ञान के विषयों के 'स्वरूप' को आप कैसे जान सकते हैं? और अगर यह मानें कि इनके स्वरूप का सही ज्ञान हो सकता है तो फिर उनको यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान के कुछ विषय ऐसे हैं जिनके स्वरूप का सत्य ज्ञान हो सकता है और कुछ अन्य ऐसे जिनके स्वरूप का सत्य ज्ञान नहीं हो सकता। पर, फिर इस भेद का आधार क्या होगा?

दर्शन के इतिहास में एक अन्य तर्क सहज रूप में सब ओर मिलता है जिसका स्वरूप यह है कि 'जो आत्म-व्याघाती है, या जिसमें दो परस्पर विरोधी गुण एक साथ परिलक्षित होते हैं, या जहाँ दो परस्पर विरोधी बातें एक साथ सत्य दिखाई देती हैं, वह हमेशा अनिवार्यतः असत् है, मिथ्या है, झूठ है, ग़लत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है। अंग्रेज़ी में इसको सेल्फ कंट्रेडिक्शन का नाम दिया गया है और अरस्तू ने इसको चिन्तन या विचार का मूलभूत नियम माना है। इस तर्क का स्वरूप कुछ-कुछ प्रारम्भ में जो तीन तर्क दिये गये थे उनमें परिलक्षित या प्रतिबिम्बित होता है और सारे दर्शन् का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि अगर किसी प्रत्यय में, या वस्तु के विचार में, या विषय के चिन्तन में आप उसको आत्म-व्याघाती दिखा दें तो उससे ही यह सिद्ध हो जायेगा कि वह पूर्णतः असत् या मिथ्या है। ऐसा सिद्ध हो जाने से दार्शनिक के अपने 'व्यवहार' पर या जीवन पर कोई फर्क नहीं पड़ता और उसे न इस बात पर कोई अचम्भा होता है, न आश्चर्य, शर्म आने की बात तो दूर की है। भारतीय दर्शन में व्यवहार और परमार्थ का भेद, संवृति सत्य और परमार्थ सत्य का भेद सर्वविदित है, और वेदान्ती हों या बौद्ध सभी इसके सहारे ही सबको 'असत्' ठहराने में कोई बाधा महसूस नहीं करते।

पश्चिमी दर्शन को लें तो वहाँ स्थिति कोई इससे बेहतर नहीं मिलती। बर्कले यह सिद्ध करने के बाद कि वस्तु या विषय का चेतना-निरपेक्ष होना आत्मव्याघाती है, इस बात को मानने में कोई संकोच अनुभव नहीं करता कि अगर विश्व मेरी चेतना से स्वतन्त्र दिखाई पड़ता है तो वह किसी अन्य ऐसी सार्वभौम चेतना का विषय होगा जिसे ईश्वर कहा जा सकता है। क्योंकि वस्तु का चेतना के आश्रित होना परिभाषा से ही अनिवार्य है। इसी तर्क का एक दूसरा।

लेकिन बर्कले ने यह नहीं पूछा कि चेतना जब स्वयं विषय रूप में उपस्थित होती है तो क्या वह किसी अन्य चेतना पर आश्रित होती है? और अगर ऐसा है तो वह ईश्वर के लिए भी उतना ही सत्य होगा जितना मनुष्य के लिए। उसने एक भेद अवश्य किया था जो भेद 'आईडिया' और 'नोशन' नाम से जाना जाता है। लेकिन यह भेद अन्य मनुष्यों के ज्ञान से सम्बन्धित है न कि अपनी चेतना के ज्ञान से। बर्कले के लिए विषय-वस्तुओं का ज्ञान और अन्य चेतनाओं का ज्ञान मूलतः भिन्न है और उसी को उसने इस भेद से दर्शाने की कोशिश की थी। लेकिन इस भेद को मानने पर उसके मूलभूत सिद्धान्त 'एस्से एस्ट पर्सिपी' (विज्ञप्ति ही सत् है) पर क्या फर्क पड़ता है, इस पर न उसने सोचा न उसके व्याख्याकारों ने।

इस तर्क का एक अन्य रूप शंकर के अद्वैत वेदान्त में मिलता है जहाँ चेतना के विषय रूप ज्ञान को उतना ही मिथ्या माना गया है जितना किसी अन्य वस्तु के विषय-रूप ज्ञान को। लेकिन अगर चेतना स्वयं को भी नहीं जानती, अनुभव भी नहीं करती, तब फिर आनन्दमय कोष का क्या होगा? जड़ और चेतन में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भेद किस आधार पर होगा? आनन्द की बात करते-करते वेदान्ती नहीं अघाते और साथ ही वे आत्मा में न कोई उपाधि मानते हैं न कोई विषय-रूप अनुभूति या ज्ञान।

बार-बार दार्शनिक अपने आपको इस मूलभूत बौद्धिक संकट में फँसा पाता है कि या तो वह अनवस्था दोष में फँसे या चक्रक दोष में। इन दोनों को अंग्रेज़ी में इन्फिनिट रीग्रेस और पिटीश्यो प्रिंसिपाई या आर्गूमेंट इन सर्कल कहा जाता है। दोनों दोष बुद्धि को स्पष्ट 'दोष-रूप' में दिखाई देते हैं, लेकिन उससे बचने का कोई रास्ता भी उसे समझ में नहीं आता! ईश्वर की सिद्धि के लिए एक तर्क हमेशा दिया जाता है कि सृष्टि का कोई स्रष्टा होना चाहिए, कार्य का कोई कारण होना चाहिए। परन्तु तब स्रष्टा का भी कोई 'स्रष्टा' होना चाहिए और कारण का भी कोई कारण होना चाहिए! लेकिन यह शृंखला तो अनन्त है, कब रुकेगी और अगर रुकेगी ही नहीं तो फिर प्रारम्भ कैसे होगी? इस कठिनाई से बचने के लिए सीधा-सीधा तरीका यह है कि हम सृष्टि को स्वतःसृष्ट मान लें। तब कार्य के कारण की खोज करने की कोई आवश्यकता नहीं। और अगर कोई यह कहे कि सृष्टि के अन्दर जो घटनायें घटित होती हैं उनके संदर्भ में कार्य-कारण की बात करना सार्थक है परन्तु समूचे ब्रह्माण्ड या सृष्टि के संदर्भ में उसकी बात करना निरर्थक है तो सीधा-साधा सवाल यह उठता है कि इस 'समूचे ब्रह्माण्ड' का क्या अर्थ होगा?

काँट ने इस समस्या का एक समाधान देने की कोशिश की थी जो दर्शन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उसका कहना था कि कालक्रम कोई वास्तविक प्रदत्त सत्य नहीं है बल्कि हमारे अनुभव के अनुभव होने की एक पूर्वापेक्षा है। पर अगर काँट की बात मान भी ली जाय तो भी सवाल वैसा का वैसा ही रहता है। क्योंकि समस्या इस बात से नहीं उठती कि काल 'प्रदत्त' है या 'पूर्वपेक्षा' बल्कि इस बात से उठती है कि काल 'काल' है। काल के प्रत्यय में ही वह अन्तर्विरोध है जो समस्या को उत्पन्न करता है। एक ओर काल उन अनन्त क्षणों की शृंखला का नाम है जिसका न कोई आदि है न अन्त, और जो इस प्रकार विभाज्य है कि उसके विभाजन का भी कभी अन्त नहीं हो सकता। यह कुछ-कुछ उसी प्रकार की समस्या है जो देश के सम्बन्ध में भी उपस्थित होती है। लेकिन काल के सम्बन्ध में यह समस्या एक और रूप लेती है, कि उसमें क्षणों का सह-अस्तित्व हो ही नहीं सकता। एक क्षण के नष्ट होने के बाद ही दूसरा क्षण उत्पन्न हो सकता है। पर यह बात न काँट ने देखी है न किसी और ने कि 'दूसरा' क्षण तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि विभाजन की प्रक्रिया में ही यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निहित है कि हम कभी भी, सिद्धान्ततः ही, 'दूसरा' क्या है इसका निर्णय कर हो नहीं सकते। गणित में जिसको 'रेशनल नम्बर' या 'रेशियो' कहते हैं उसमें यह बात अनिवार्यतः निहित है। इसके बाद संख्याओं से जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं उनकी चर्चा यहाँ करने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन संख्याओं का वह रूप जिसको 'इर्रेशनल' और 'इमेजिनरी' कहा जाता है, उसकी यहाँ याद दिलाना ज़रूरी है।

यही नहीं, दार्शनिक दृष्टि से जो समस्या इससे भी अधिक गहरी है वह यह है कि अगर 'काल' अनन्त क्षणों की एक ऐसी सतत प्रवहमान शृंखला है जिसमें एक क्षण के नष्ट होने पर ही दूसरा क्षण उत्पन्न होता है, तो उसका ज्ञान कभी भी कैसे हो सकता है? काल के 'काल' होने का ज्ञान ही उसके 'काल' होने को नष्ट करता है, क्योंकि हम कभी भी यह कैसे जान सकते हैं कि जो क्षण नष्ट हुआ है वह किसी न किसी रूप में अब भी 'सत्' है और वह उससे 'पूर्व' था जो अब है? काँट ने इस समस्या को देखा ज़रूर था और यह कहने की कोशिश की थी कि चेतना का काल से जो सम्बन्ध है उसमें उसका जो काल के बारे में ज्ञान है वही यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि उसमें (चेतना में) कुछ ऐसा है जो काल से परे है और उसके आधार पर ही काल में वह समग्रता और एकता उत्पन्न होती है जिसके द्वारा उसका ज्ञान सम्भव होता है। पर अगर चेतना देश और काल दोनों से परे है तो फिर उस सबके ज्ञान का जो अनिवार्यतः देश और काल में उपस्थित है, या उसके रूप से रचित या रूपायित है, क्या होगा? ये सब दार्शनिक तर्क से उत्पन्न समस्याएं हैं।

दार्शनिक तर्क के अनेक रूप हैं। यहाँ एक और रूप पर ध्यान दें तो शायद हमको दर्शन के उस 'स्व-रूप' का पता चलेगा जिसका साधारणतः हमें आभास तक नहीं हो पाता। यह तर्क आधुनिक आंग्ल दार्शनिक युग के प्रारम्भ में मूर द्वारा दिया गया था। तर्क यह था कि किसी भी प्रत्यय का क्या कभी भी कोई लक्षण दिया जा सकता है? क्योंकि लक्षण देने का अर्थ ही यह है कि जिसका लक्षण दिया जा रहा है उसको किसी अन्य लक्षण में पूर्ण रूप से समाहित करके परिभाषित करें। कहने का अर्थ यह है कि जब भी हम किसी बात को समझने की कोशिश करते हैं तो वह कोशिश यही होती है कि वह चीज़ वैसी नहीं है जैसी हमें दिखाई देती है, उसको अन्य उन 'चीज़ों' के द्वारा पूर्ण रूप से समझा जा सकता है जिनको हम पूर्ण रूप से 'जानते' है। परिभाषा देने का अर्थ ही यह है। लेकिन क्या कभी ऐसा हो सकता है?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लेकिन ऐसा तो रोज़ होता है और मनुष्य की बुद्धि यह हमेश से करती आयी है। लक्षण की खोज करना, 'परिभाषा देना', बुद्धि का ही कार्य माना गया है। फिर मूर ने ऐसा क्या तर्क दिया जो उसकी दृष्टि में उस बुद्धि के मूलभूत कार्य की असंगति बताता है?

मूर का तर्क सीधा है कि अगर कोई किसी भी चीज की परिभाषा करता है तो उस परिभाषा का रूप अनिवार्यतः यही होता है कि "यह 'यह' है," जहाँ दूसरा 'यह' पहले 'यह' से भिन्न होता है। अब अगर परिभाषा वास्तव में परिभाषा है तो दूसरे 'यह' की जगह आप हमेशा पहला 'यह' रख सकते हैं। लेकिन ऐसा करते ही आपका वाक्य अर्थहीन हो जायेगा। किन्तु उसका रूप तो यही होगा कि "यह, यह है," जहाँ दूसरे 'यह' और पहले 'यह' में कोई भेद नहीं है।

अर्थ होने के लिए जिसकी परिभाषा दी जा रही है और जिसके द्वारा उसको परिभाषित किया जा रहा है उसमें 'भेद' होना चाहिए, लेकिन परिभाषित करने का अर्थ ही है कि उनमें ऐसा कोई भी भेद कभी भी नहीं हो सकता, अगर यह ठीक है। अब परिभाषा अगर वास्तव में परिभाषा है तो वह सदैव 'अर्थ-हीन' होगी और अगर वह अर्थ-हीन है तो उसको 'परिभाषा' कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। मूर ने यह तर्क एक विशिष्ट संदर्भ में दिय था जिसमें उसने गुड की परिभाषा की बात की थी और यह कहा था कि यह प्रत्यय उन मूल प्रत्ययों में से है जो अपने-आप में अपरिभाषेय हैं, जिनकी कोई परिभाषा सिद्धान्ततः दी ही नहीं जा सकती। उसने इसको इस उदाहरण के द्वारा समझाने की कोशिश की थी कि अगर कोई कहे कि 'सुख शुभ है' या 'प्रेयस् श्रेयस् है' तो वह यह नहीं कह रहा है कि 'प्रेयस् प्रेयस् है', क्योंकि इस दूसरी बात की सत्यता के बारे में तो कभी भी कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता, जबकि पहले वाक्य की सत्यता के बारे में हमेशा प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'क्या प्रेयस् वास्तव में श्रेयस् है?' जिसका अर्थ यह कभी नहीं हो सकता कि वह यह पूछ रहा है कि 'क्या प्रेयस् वास्तव में प्रेयस् है?'

मूर के इस सीधे-साधे तर्क ने आधुनिक नीतिशास्त्र सम्बन्धी चिन्तन को एक ऐसी दिशा दी जिसकी विस्तार से चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। एक तरह से किसी वस्तु के या किसी कर्म के उन सभी गुणों का वर्णन करना जो उसमें पाये जा सकते हैं और फिर यह कहना कि वह वस्तु या वह कर्म ठीक है, शुभ हैं, मुन्दर है, यानि जिसको 'स्वयं में शुभ' या 'स्वयं में मूल्यवान्' कहते हैं, तो उन दो बातों में क्या कोई भेद होना ज़रूरी है? मूर के अनुसार भेद होना चाहिए वरना उन सभी समन्वित गुणों के बारे में यह कहना कि उनका समन्वित रूप उस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वस्तु या कर्म को शुभ बनाता है, का केवल यही अर्थ होगा कि उनमें वह गुण विद्यमान हैं जिनके आधार पर हम उनको ठीक, शुभ या सुन्दर कहते हैं।

यह बात एक तरह से उन गुणों के सम्बन्ध में लागू होती है जो आश्रित गुण (सेकंड्री क्वालिटीज़) के नाम से जाने जाते हैं। या जो एक ओर रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि में गृहीत होते हैं और दूसरे सत्य, शिव, सुन्दर आदि में।

यही बात रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि, यानि जिनको लॉक ने आश्रित गुण कहा था, उनके उन सम्बन्धों के बारे में उठायी जा सकती है जो उनका मूल गुणों (प्राइमरी क्वालिटीज) से है। मूल गुणों का अर्थ साधारणतः परिमाणात्मक गुणों से होता है जो लॉक के अनुसार मनुष्य की चेतना से स्वतन्त्र हैं, परन्तु जो विज्ञान के अनुसार इन्द्रिय-प्रदत्त गुणों के आधार हैं। अब जो बात मूर ने शुभ की परिभाषा के सम्बन्ध में उठायी थी वह रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के बारे में भी उठायी जा सकती है, क्योंकि उनकी 'परिभाषा' भी परिमाणात्मक गुणों की पदावली में दी जा सकती है, क्योंकि वे दोनों एक ही बात कहती हैं। और अगर उनमें भेद करना है तो फिर यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान की बात ग़लत है, क्योंकि उनकी परिभाषा (रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि की) उन (परिमाणात्मक गुणों) की पदावली में दी ही नहीं जा सकती। मूर ने यह बात पीले रंग के बारे में कही थी और उसे अपरिभाषेय बताया था। उसके अनुसार यह अपरिभाषेयता उसी प्रकार की है जिसकी स्थापना उसने शुभ के सम्बन्ध में की थी, हालांकि मूर के व्याख्याकारों ने उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया। वास्तव में जैसा हमने पहले कहा है, मूर की मूल बात परिभाषा के बारे में है न कि शुभ की परिभाषा के बारे में, और अगर मूर के तर्क पर गहराई से सोचें तो यह पता लगेगा कि उसका तर्क मानने पर शायद ही कोई चीज़ परिभाषेय रहेगी, यानि किसी भी 'चीज' या 'प्रत्यय' की परिभाषा हो ही नहीं सकती। मूर ने इस संदर्भ में मिश्र और सरल गुणों में भेद किया है और यह कहने की कोशिश की है कि पहली तरह के गुण परिभाषित किये जा सकते हैं जबकि दूसरी तरह के गुणों की परिभाषा सिद्धान्ततः हो ही नहीं सकती।

मूर के इस भेद पर हम यहां विचार नहीं करेंगे, बल्कि कुछ ऐसे अन्य तर्कों की ओर ध्यान देंगे जो मूर के तर्क की ही तरह अन्य संदर्भों में दिये गये हैं।

भारतीय चिन्तन में इस प्रकार का तर्क कौत्स ऋषि ने दिया था और वह वेदों की अर्थवत्ता के संदर्भ में था। ईसा के छः-सात सौ वर्ष पूर्व यह तर्क दिया गया था और यास्क के ग्रन्थ निरुक्त में इसका उल्लेख है। वेदों के मंत्रों के बारे में यह कहा जाता था कि उनको किसी भी अन्य प्रकार से कहा ही नहीं जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकता क्योंकि वे अपने-आप में स्वयं संपूर्ण हैं, उनकी स्वरानुपूर्वी, वर्णानुपूर्वी और शब्दानुपूर्वी में ज़रा सा भी फर्क या परिवर्तन नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर उनकी अर्थवत्ता ही नष्ट हो जायेगी, वे पूर्ण रूप से 'अर्थहीन' हो जायेंगे। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि केवल शब्द की ही बात नहीं कही गयी है, वर्ण और उच्चारण की भी बात कही गयी है—मंत्र को लिखने की ही बात नहीं है बल्कि बोलने की भी बात है, उनके उच्चारण में ज़रा सा भी फर्क नहीं होना चाहिए, और अगर फर्क होता है तो मंत्र 'मंत्र' ही नहीं रहता।

कौत्स का तर्क यह था कि अगर ऐसा है तो 'मंत्र' वास्तव में अर्थहीन है, क्योंकि अर्थ होने का 'अर्थ' ही यह होता है कि जो बात जिन शब्दों में कही जा रही है वह अन्य शब्दों में भी कही जा सके। अगर किन्हीं शब्दों के बारे में ऐसा सिद्धान्ततः नहीं हो सकता तो उस कथन को 'अर्थवान्' कहने का क्या अर्थ होगा? क्योंकि अगर कोई किसी बात को कहे और हम यह कहें कि हम आपकी बात नहीं समझे हैं ओर वह फिर उसी बात को उसी तरह बार-बार कहता रहे तो क्या उसको कोई भी कभी 'अर्थवान्' मानेगा?

कौत्स के इस कथन का अर्थ यह है कि 'अर्थवान्' होने की अनिवार्य शर्त यह है कि किसी बात को अन्य प्रकार से भी कहा जा सकता है। अर्थ और भाषा का सम्बन्ध कोई ऐसा नहीं है कि एक अर्थ एक ही प्रकार से अभिव्यक्त हो सके। हम उसी बात को बार-बार समझने की कोशिश करते हैं और यह 'समझ' तभी हो सकती है जब उस बात को कई तरह से कहा जा सकता है।

वैदिक मंत्रों के बारे में जो बात हज़ारों साल पहले कही गयी थी ओर जिसका कौत्स ने खण्डन किया था वह बात आज के अत्याधुनिक दर्शन में मिले तो क्या किसी को आश्चर्य नहीं होगा? पर अचम्भे की बात तो यह है कि ऐसा हुआ ही नहीं है बल्कि जिसने यह बात कही थी वह कम से कम अमेरीका के दार्शनिकों में सबसे अधिक विख्यात माना जाता है। क्वाइन के प्रसिद्ध लेख "ट्र डॉग्माज़ ऑफ एम्पिरिसिज्म" में समानार्थकता की चर्चा है और उस चर्चा का विषय यही है कि क्या पूर्ण रूप से समानार्थक उक्तियाँ या वाक्य हो सकते हैं? दूसरे शब्दो में कहें तो समानार्थकता का अर्थ क्या है? क्वाइन ने समानार्थकता के अर्थ को इस प्रकार परिभाषित किया है कि जो पद या वाक्य समानार्थक हैं उनको एक-दूसरे के स्थान पर हमेशा रखा जा सकता है और उनकी इस प्रकार 'स्थानापन्नता' से पहले पद या वाक्य की सत्यता पर कोई आंच नहीं आती, यानि यदि पहला वाक्य सत्य है तो दूसरा वाक्य भी सत्य होगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'सत्यता' की बात करते ही वाक्यों की परिधि सिमट जाती है और केवल उन्हीं वाक्यों तक सीमित हो जाती है जिनकी 'सत्यता' या 'असत्यता' की बात की जा सकती है। क्वाइन की इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया है। क्वाइन सब वाक्यों की समानार्थकता की बात नहीं कर रहा है—वह तो केवल उन वाक्यां की बात कर रहा है जिनके बारे में सत्यता या असत्यता का प्रश्न सार्थक रूप में उठाया जा सकता है और वाक्य साधारणतः वर्णनात्मक कहे जाते हैं, यानि वे किसी वस्तुस्थिति या घटना का वर्णन करते हैं।

क्वाइन ने इस संदर्भ में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि अगर समानार्थकता का यह निकष माना जाये तो कोई भी वाक्य कभी भी पूर्ण रूप से समानार्थक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी अवस्था सोची जा सकती है जिसमें स्थानान्तरण से पहले वाक्य की सत्यता पर आंच आती है।

स्थानान्तरण की बात करना एक तरह से अनुवाद की बात करना है और अनुवाद की बात करना ट्रांस्लेशन की बात करना है, हालांकि संस्कृत में जिसे 'अनुवाद' कहा जाता है और अंग्रेज़ी में जिसे 'ट्रांस्लेशन' कहा जाता है वे एक-दूसरे से पूर्णरूपेण भिन्न हैं। संस्कृत में 'अनुवाद' का अर्थ उसी बात को उसी तरह फिर दुबारा कहना है, जबकि 'ट्रांस्लेशन' में यह अर्थ कभी भी नहीं होता। इसलिए शायद मुकुन्द लाठ ने अपनी पुस्तक **स्वीकरण** में 'अनुवाद' शब्द का प्रयोग न करके स्वीकरण शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने यह शब्द राजशेखर की प्रसिद्ध पुस्तक **काव्य मीमांसा** से लिया है और इस शब्द के द्वारा यह बताने की कोशिश की है कि ट्रांस्लेशन का अर्थ वह कभी भी नहीं माना जा सकता है जो क्वाइन ने किया है, क्योंकि एक ओर तो क्वाइन का 'लक्षण' केवल एक ही प्रकार के वाक्यों पर सिद्धान्ततः लागू हो सकता है जबकि समानार्थकता की समस्या सभी क्षेत्रों में सभी वाक्यों पर एक ही समान लागू होती है। दूसरी ओर समानार्थकता की बात खाली अभिधेय (रेफरेंस) तक ही सीमित न होकर उससे भी सम्बन्धित है जिसे फ्रेगे ने अभिप्रेतार्थ (सेंस) कहा है, क्योंकि बिना अभिप्राय के अर्थ का प्रश्न ही नहीं उठता। भाषा का सम्बन्ध अभिप्रेतार्थ और अभिधेयार्थ दोनों से होता है और अर्थ की समानता की बात केवल एक ही संदर्भ में नहीं की जा सकती।

क्वाइन के कथन पर हम यहाँ विस्तार से विचार नहीं करना चाहते, लेकिन एक बात कहना चाहते हैं कि अगर क्वाइन वास्तव में समानार्थकता की बात को नहीं मानता तो फिर वह उन हज़ारों पुस्तकों के बारे में क्या कहेगा जो शब्दकोष के नाम से जाने जाते हैं और जिनके उपयोग वह स्वयं कभी न कभी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ज़रूर करता होगा। क्वाइन के तर्क के संदर्भ में एक और बात पर ध्यान देना भी ज़रूरी है क्योंकि उसने भाषा के सम्बन्ध में अपने तर्क को केवल अभिप्रेतार्थ या अभिधेयार्थ तक ही सीमित नहीं किया बल्कि उसके उस स्थूल रूप को भी उसमें समाहित किया है जिसके आधार पर ही भाष 'भाषा' होती है। शब्द वर्णों से बनते हैं ऐसा सबको पता है, लेकिन कोई भी वर्णों के विशिष्ट समूह को शब्द के उस अर्थ से नहीं जोड़ता जिसको अभिप्राय या अभिधान का नाम दिया जाता है। क्वाइन ने इस बात को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि ऐसा लगता है कि वह भाषा के शरीर को भी, उसके प्राण और उसकी आत्मा से अलग नहीं करना चाहता है और अगर भाषा के शरीर को उसका अनिवार्य आवश्यक अंग मान लिया जाय तो एक वर्ण-समूह के स्थान पर दूसरे वर्ण-समूह को रखने पर उस लक्षण की कभी भी रक्षा नहीं हो सकेगी जो उसने समानार्थकता के लिए किया है, क्योंकि दो भिन्न शब्द या पद, जिनके वर्ण-समूह अलग हैं, वे कभी भी समानार्थक नहीं माने जा सकेंगे, चाहे उनका अभिप्राय और अभिधान एक ही हो। लेकिन दो अलग-अलग शब्दों का अभिधान के अर्थ में एक ही अर्थ होने पर अभिप्राय के अर्थ में एक ही अर्थ कभी नहीं हो सकता। क्वाइन ने इसकी चर्चा नहीं की है, लेकिन फ्रेगे ने इनमें जो भेद किया है और जिसके लिए वह दर्शन के इतिहास में प्रसिद्ध है, उसकी ओर इस चर्चा के संदर्भ में ध्यान देना ज़रूरी है।

फ्रेगे ने यह भेद इस आधार पर किया था कि जहाँ एक ओर शब्द, शब्द-समूह और वाक्य उस 'वस्तु' या वस्तुस्थिति की ओर निर्देश करते हैं जिसके बारे में वे कुछ कहते हैं या जिसकी ओर संकेत करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे उन अर्थों के संसार को भी सूचित करते हैं जो हमारे अपने भाव-जगत् से सम्बन्धित है लेकिन जो केवल क़िसी विशिष्ट व्यक्ति के 'भाव' तक ही सीमित न होकर उस भाषा के सभी जानने वालों के लिए सार्थक होता है और अपने प्रयोग द्वारा एक भाव-जगत् की संरचना भी करता है और उसकी ओर संकेत भी करता है। फ्रेगे ने स्वयं इस भेद को पूरी तरह नहीं समझा था, क्योंकि उसका ध्यान केवल स्थूल सत्य की समस्या तक ही सीमित था।

यह बात शायद कुछ अधिक स्पष्ट प्रतीत होने लगेगी अगर हम फ्रेगे के उस उदाहरण की ओर ध्यान दें जिसके द्वारा उसने इस भेद को समझाने की कोशिश की थी। फ्रेगे ने कहा था कि 'भोर का तारा ही सन्ध्या का तारा है' इस वाक्य में 'भोर का तारा' और 'सन्ध्या का तारा' एक ही चीज की ओर संकेत करते हैं, हालांकि इनके 'अर्थ' भिन्न-भिन्न हैं। दोनों उस ग्रह की ओर संकेत करते हैं जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शुक्र के नाम से जाना जाता है और जो आसमान में शाम को भी दिखाई देता है और सुबह भी। यह ग्रह इतनी खूबसूरती से चमकता है कि देखने वाले का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता और पश्चिमी परम्परा में तो यह 'वीनस' के नाम से जाना जाता है जो मनुष्य को हमेशा प्रेम या शृंगार का स्मरण कराता है। वैसे भी यह तारा अपने आप में सुन्दर है और मनुष्य में हज़ारों भावनाएं सहज रूप में जगाता है। लेकिन फ्रेगे का ध्यान इन सब बातों पर नहीं था, क्योंकि अगर होता तो उसके सामने 'वीनस' शब्द के सम्बन्ध में भी वही समस्याएं उठतीं जो 'भोर का तारा' और 'सन्ध्या का तारा' के बारे में उठी थीं। हाँ, एक भेद अवश्य रहता, क्योंकि पहले में केवल एक ही शब्द है जबकि दूसरे में दो अलग-अलग दिखाई देने वाले शब्द हैं जिनका संकेत एक ही वस्तु की ओर है।

फ्रेगे के सामने दो अलग-अलग समस्याएं थीं जिनमें वह भेद नहीं कर पाया था। एक समस्या यह थी कि ये दो अलग-अलग दिखने वाले शब्द वास्तव में एक ही वस्तु की ओर संकेत करते हैं लेकिन अगर हमें यह पता न हो तो हमारे लिए अलग-अलग वस्तुओं का ही निर्देश करेंगे, और जब हमें यह पता चलेगा कि वास्तव में ये दो अलग-अलग शब्द-चिह्नों का निर्देश 'एक' ही है तो हमारे ज्ञान में एक अजीब तरह की वृद्धि होगी जिसको तभी समझा जा सकता है जब हम फ्रेगे के बताये हुए भेद को अच्छी तरह समझें और आत्मसात् करें। दूसरी ओर उसके सामने यह समस्या थी कि ऐसा समझने पर भी इन दो शब्द-चिह्नों में भेद तो रहेगा और वह भेद केवल उनके 'वर्ण-समूह' के सम्बन्ध में ही नहीं होगा, बल्कि अर्थ से भी सम्बन्धित रहेगा। अब, अगर ऐसा है तो फिर इन अर्थों में जो एक-दूसरे से भिन्न हैं और उस 'निर्देश' में जो एक ही है, क्या भेद होगा? भेद उस सब 'भाव-जगत्' से सम्बन्धित है जो फ्रेगे के उदाहरण में 'सुबह' और 'शाम' से इस तरह सम्बन्धित है कि वह उनसे अलग किया ही नहीं जा सकता।

लेकिन यह बात सिर्फ 'भोर का तारा' या 'सन्ध्या का तारा' के बारे में ही नहीं है, यह उसके बारे में भी है जिसे हम 'वीनस' कहते हैं और जो एक तरह से उन दोनों शब्द-समूहों ('भोर का तारा' तथा 'सन्ध्या का तारा') का निर्देश है। यह समस्या कुछ भिन्न है क्योंकि यह उस बात की ओर संकेत करती है जिसकी ओर फ्रेगे ने ध्यान नहीं दिया। वह बात यह है कि शब्द कोई भी हो उसमें हमेशा अभिप्राय और अभिधान का भेद रहेगा। यह बात उन शब्दों के बारे में भी सही है जिनका अपना अभिधान कोई अभिप्राय होता है, क्योंकि तब उस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभिप्राय में, जिसने अब अभिधान का रूप ले लिया है और उस अभिप्राय में जिसने वह रूप नहीं लिया है, वह भेद नये रूप में विद्यमान है। मनोविज्ञान से सम्बन्धित बहुत से शब्द इसी प्रकार के हैं, और वे शब्द जिनका भाव-जगत् से सम्बन्ध है, उनमें तो यह उससे भी अधिक स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। लेकिन अगर यह बात ठीक है तो अभिप्राय और अभिधान का भेद सापेक्ष है—जो एक संदर्भ में अभिप्राय है वही दूसरे संदर्भ में अभिधान हो सकता है और जो अभिधेय है वह स्वयं अभिप्राय का रूप ले सकता है।

भाषा की यह समस्या जिस बात से उत्पन्न होती है उसकी ओर किसी ने अधिक ध्यान नहीं दिया। वह बात यह है कि भाषा का अपना कोई 'स्वरूप' ही नहीं होता, उसका अपना कोई 'सत्त्व' नहीं है। और जिसका न स्वरूप हो न सत्त्व हो उसकी सत्ता कैसे हो सकती है? पर जिसका न 'स्वरूप' है न 'सत्त्व' है न 'सत्ता' है वह यह सब न रखते हुए भी अर्थवान् है और मानवीय जगत् को संरचित करता है, क्योंकि मनुष्य की 'सत्ता' बिना भाषा के समझी ही नहीं जा सकती। पशु-जगत् में या प्राणि-जगत् मात्र में 'भाषा' होती है या नहीं यह कहना कठिन है लेकिन जहाँ तक मनुष्य की सत्ता का सवाल है वहाँ इसके बारे में दो राय हो ही नहीं सकती कि भाषा के बिना न मनुष्य हो सकता है और न मनुष्य के बिना 'भाषा'। इस आत्म-विरोधाभासी रहस्य का मूल उस 'आत्मचेतना' में है जिसके बिना मनुष्य की सत्ता को परिभाषित ही नहीं किया जा सकता। जो लोग उस चेतना को, किसी भी कारणवश, अस्वीकार करते हैं उन्हें भाषा को अस्वीकार करना पड़ेगा और मनुष्य को भी।

दार्शनिकों के तर्क अजीब होते हैं, इसके कई उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। एक और उदाहरण गिलबर्ट राइल में मिलता है। उसका तर्क वाक्य की 'सार्थकता' ओर 'निरर्थकता' को मान कर चलता है। आधुनिक पश्चिमी दर्शन में एक समय इस भेद का बहुत महत्त्व था। क्योंकि जो वाक्य निरर्थक है उसकी सत्यता या असत्यता के बारे में बात करना फिज़ूल है, समय बर्बाद करना है। किन्तु इन दार्शनिकों के अनुसार, दार्शनिक हज़ारों साल से यह करते रहे हैं। ये वाक्य जिनका कोई अर्थ न है न हो सकता है, वे वास्तव में वाक्य हैं ही नहीं, वे तो वाक्य के आभास मात्र हैं, जिनको वाक्य समझकर दार्शनिक लोग हज़ारों सालों से धोखा खा रहे हैं। लेकिन ऐसा मानने पर 'अर्थवान्' होने का कोई लक्षण तो बताना ही पड़ेगा! और आधुनिक दर्शन का एक बहुत बड़ा भाग इस प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। अर्थ की कसौटी क्या हो, इसका एक उत्तर तो यह दिया गया था कि अगर वाक्य 'अर्थपूर्ण' है तो सिद्धान्ततः उसकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सत्यता या असत्यता सिद्ध करने का कोई न कोई तरीका होना चाहिए, और सत्य या असत्य सिद्ध होने के लिए कम से कम कोई ऐसी वस्तुस्थिति का निर्देश होना चाहिए जिसके घटित होने पर उस वाक्य को हम सत्य या असत्य ठहरायेंगे। इसको अर्थ का प्रमाणीकरण-सिद्धान्त कहा जाता है।

बाद में सत्यता और असत्यता के निर्धारण में मूलभूत भेद किया जाने लगा और प्रसिद्ध दार्शनिक कार्ल पॉपर के अनुसार किसी वाक्य की अर्थवत्ता केवल इसी से निर्धारित हो सकती है कि उसको असत्य सिद्ध किया जा सके। इसे अर्थ का असत्यापन सिद्धान्त कहा जाता है। इसके मूल में पॉपर का तर्क यह था कि अगर हम वाक्य के सत्यापन की बात करें तो उसमें एक तार्किक दोष है और वह तार्किक दोष वास्तव में उस प्रक्रिया में भी परिलक्षित होता है जिसके अनुसार हम किसी वाक्य की 'सत्यता' निश्चित करने की कोशिश करते हैं। उस तर्क का साधारण रूप यह है कि यदि कोई बात सत्य है तो ऐसी 'वस्तुस्थिति' घटित होनी चाहिए। ऐसी वस्तुस्थिति घटित होती है, इसलिए यह बात सत्य है। यह तर्क स्पष्टतः ग़लत है क्योंकि इसमें यह दोष है जिसे निष्कर्ष को पूर्वसिद्ध मानना कहा जाता है। उसके अनुसार अगर हम इस तार्किक दोष से बचना चाहते हैं तो हमको इसके उस रूप को स्वीकार करना पड़ेगा जिससे वह इस दोष से मुक्त है, और यह रूप सर्वविदित है। तर्क का जो इस तार्किक दोष से मुक्त स्वरूप है, इस प्रकार का है—यदि कोई बात सत्य है तो ऐसी 'वस्तुस्थिति' घटित होनी चाहिए। ऐसी वस्तुस्थिति घटित नहीं हुई अतः ऐसी बात सत्य नहीं है।

वाक्यों के सदंर्भ में अर्थवत्ता के प्रश्न ने एक नयी दार्शनिक समस्या को जन्म दिया और वह दार्शनिक समस्या यह थी कि ऐसा हो सकता है कि सब तरह से 'सही' दिखने वाले वाक्य वास्तव में वाक्य हों ही नहीं। इससे बड़ा 'माया' का उदाहरण और क्या हो सकता था? व्याकरण की दृष्टि से वाक्य 'वाक्य' दिखाई देता है, प्रतीत होता है, परन्तु दार्शनिक दृष्टि से हम उसको 'वाक्य' मानना ठीक नहीं मानते। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है?

राइल ने इस समस्या को एक नयी तरह से सुलझाने की कोशिश की और यह कहा कि हर वाक्य में किसी चीज़ के बारे में कुछ कहा जाता है। अब, अगर हम इस बात पर ध्यान दें कि किस चीज़ के बारे में क्या कहा जा रहा है तो शायद हमें वाक्य के 'अर्थवान्' होने के सम्बन्ध में एक नयी 'कसौटी' प्राप्त हो सके। इसके सदंर्भ में उसने दो विकल्प प्रस्तुत किये—एक यह कि हम जिस चीज़ के बारे में बात कर रहे हैं उस चीज़ को वैसा ही रखें, लेकिन उसके बारे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में जो कह रहे हैं उसमें सतत परिवर्तन करते जायें। ऐसा करने पर एक ऐसा बिन्दु आयेगा जहाँ हमको यह स्पष्ट आभास होगा कि अब वाक्य कुछ अजीब तरह का होने लगा है, यानि अब उसकी सत्यता या असत्यता का प्रश्न करना कठिन है। क्योंकि जो बात हम वस्तु के बारे में कह रहे हैं। वह उस के बारे में सार्थक रूप से कही ही नहीं जा सकती। दूसरे अर्थों में, उस वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसके बारे में उस प्रकार की बात कहने का कोई अर्थ ही नहीं है। और अगर अर्थ नहीं है तो फिर सत्यता-असत्यता की बात करने का क्या मतलब होगा?

यह बात एक उदाहरण से आसानी से समझी जा सकती है। अगर हम कहें "गुलाब का फूल लाल है" तो इसके बारे में कोई समस्या नहीं उठती, लेकिन अगर हम यह कहें कि "गुलाब का फूल ईमानदार है" तो हम परेशानी में पड़ जायेंगे कि आख़िर ईमानदार होना तो आदमियों के लिए कहा जाता है, फूलों के लिए नहीं। इसी तरह का एक उदाहरण और लें—अगर हम कहते हैं कि "मेज़ टूट गयी है" तो बात सभी को आसानी से समझ में आती है, लेकिन अगर हम कहें कि 'मेज़ मर गयी" तो सब लोग हमारी तरफ देखने लगेंगे कि इन्हें क्या हो गया। आदमी मरते हैं, जानवर मरते हैं, पर कहीं मेज़ मरती है? मेज़ के बारे में यह कहना कि वह 'ज़िंदा' है या 'मर' गयी है, बेमानी है। इसलिए व्याकरण की दृष्टि से यह वाक्य चाहे वाक्य हो किन्तु वास्तव में यह वाक्य नहीं है।

इसी का दूसरा विकल्प उसने इस प्रकार प्रस्तुत किया कि हम जो बात किसी के बारे में कह रहे हैं उसको वैसा ही रखें और जिसके बारे में कह रहे हैं उसमें परिवर्तन करते जायें। ऐसा करने पर हमें एक बिन्दु पर ऐसा लगेगा कि अब हम जिसके बारे में जो बात कह रहे हैं वह पहले सार्थक लगती थी पर अब वह निरर्थक लगने लगी है। इसका उदाहरण हम उसी तरह बना सकते हैं जैसा कि पहले बनाया था। हमने कहा था "गुलाब का फूल लाल है" और फिर 'लाल' में परिवर्तन किया था। अब हम लाल होने को रख लेते हैं और जिन चीजों के बारे में हम यह कहते हैं कि वे लाल हैं उनमें सतत परिवर्तन करते हैं। ऐसा परिवर्तन करने पर हमारे सामने कुछ उदाहरण ऐसे ज़रूर आयेंगे जिनके बारे में हमें ऐसा लगेगा कि यहाँ इनके संदर्भ में यह कहना कि ये लाल हैं या लाल नहीं हैं, दोनों निरर्थक हैं। जैसे, अगर कोई कहे कि "कागज़ लाल है" तो इसकी अर्थवत्ता के बारे में किसी के सामने कोई सवाल कभी नहीं उठेगा। लेकिन अगर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कोई यह कहे कि "ईमानदारी लाल है" तो इसे कोई भी अर्थवान् मानने के लिए तैयार नहीं होगा।

अब हम राइल के दोनों विकल्पों को एक साथ लें तो राइल के कथन को इस प्रकार समझ सकते हैं कि जैसे ही हम किसी भी विशिष्ट गुण की बात करते हैं तो एकदम संसार दो भागों में विभक्त हो जाता है, एक उन वस्तुओं का जिनके संदर्भ में यह कहना कि उनमें यह विशिष्ट गुण पाया जाता है या नहीं पाया जाता है, सार्थक है। इसके विपरीत वे सब वस्तुएं हैं जिनके बारे में यह कहना कि उनमें वह गुण विद्यमान है, या विद्यमान नहीं है, पूर्ण रूप से अर्थ-हीन है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु को लें तो उसके संदर्भ में गुण भी सापेक्ष होने लगते हैं और अपने को दो भागों में बाँट लेते हैं। एक वह जो अपने वाचक शब्दों के द्वारा निर्मित वाक्यों को सार्थक बनाते हैं और दूसरे वे जो उनको अर्थ-शून्य बना देते हैं। दोनों हालतों में दूसरी तरह के वाक्य वास्तव में वाक्य हैं ही नहीं, केवल वाक्य का 'मुखौटा' पहनकर सबको धोखा देते हैं। दार्शनिक भी हज़ारों सालों से इन वाक्यों के धोखे में आकर दार्शनिक उलझनों के जाल में फँसते रहे हैं और उन उलझनों को सुलझाने की प्रक्रिया को 'दर्शन' का नाम देते रहे हैं।

दार्शनिकों के तर्कों के कुछ उदाहरण हमने ऊपर दिये हैं। इनके अलावा और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अगर कोई इनकी नब्ज़ एक बार पहचान ले तो स्वयं इनको पहचान सकता है, इनका पता लगा सकता है। लकिन इनका वास्तव में स्वरूप क्या है। ये कैसे उत्पन्न होते हैं और मनुष्य को किन-किन बौद्धिक उलझनों में डालते हैं, इसका ब्यौरा देना मुश्किल है। लेकिन शायद दर्शन का 'स्वरूप' ही यह है कि वह इस प्रकार की तर्क-बुद्धि से उत्पन्न होता है और इनको सुलझाने में ही अपने को सार्थक मानता है।

विश्वविद्यालय मार्ग, बापू नगर,
जयपुर 302004

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जगत्-चिन्तन

यशदेव शल्य

'जगत्' शब्द का अर्थ 'गतिमान्' है। यही अर्थ 'संसार' शब्द का भी है। किन्तु 'जगत्' शब्द का रूढ़ार्थ या अभिप्रेतार्थ इससे बहुत व्यापकतर है। 'गतिमान्' शब्द इस व्यापकतर अर्थ के केवल एक पक्ष का वाचक कहा जा सकता है। व्यापक अर्थ में यह 'बाह्येन्द्रियों के विषयभूत स्वतन्त्र बाह्य सत्' का वाचक है। किन्तु गतिमानता को यदि जगत् का एक लक्षण मानकर भी चलें, जिसे 'धर्मोहि विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' में व्यावर्त्तक लक्षण माना गया है, तो भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या इस गति का प्रतिष्ठापक धर्म जगत् के बाहर है या कि इसका अन्तर्गत स्वरूप है? उपर्युक्त उक्ति में शायद धर्म को इसका अन्तर्गत स्वरूप नहीं माना गया है। किन्तु यदि जगत् के सम्बन्ध में यह मान भी लिया जाय कि इसमें जो कुछ भी है वह परिवर्तनशील है और जो कुछ भी ऐसा है जो परिवर्तनशील नहीं है वह उसके बाहर है, वह जगत् नहीं है, तो भी यह शब्द जगत् के केवल एक अनिवार्य लक्षण का वाचक ही कहा जा सकता है, उसका इसे प्रधान लक्षण कहना भी आवश्यक नहीं ठहरता। जगत् का एक दूसरा वाचक शब्द 'सृष्टि' है। अर्थात् किसी के द्वारा रचा गया, बनाया गया। यद्यपि 'सृष्टि' शब्द का वाच्य व्यापकतर है, इसे पूर्ण व्यापक भी चाहें तो कह लें, किन्तु इसमें कठिनाई यह है कि इसमें किसी सर्जक का स्वीकार निहित है जो जगत् के बाहर है और जिसमें इस सृष्टि की प्रतिष्ठा है। किन्तु सृष्टि की व्याख्या कुछ इस प्रकार भी की जा सकती है जिसमें कर्त्ता को कर्म से पृथक् नहीं देखा जाय, सृजन-कर्म और सृष्टि को एक ही के दो अवियोज्य आयाम माना जाय : 'सोऽकामयत् बहुस्यां प्रजायेयेति'[1] में कामना के कर्म और उसके कार्य को पूर्वापर घटनाओं के रूप में भी देखा जा सकता है और युगपत् रूप में भी। इसी उपनिषद् में आगे 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' कह कर यह स्पष्ट कर दिया गया है। किन्तु इनमें पौर्वापर्य मानने पर उसकी अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ दिखायी देती हैं जितनी यौगपद्य मानने पर दिखाई देती हैं। जैसे, इस कामना से पूर्व 'वह' पूर्णकाम था या कि कामना-शून्य था? याकि कामनामय तो था किन्तु बहु होने की कामना तब उसमें नहीं थी? इनमें कोई भी विकल्प स्वीकार करने में कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ हैं। कामना, क्रिया और क्रिया-फल में पौर्वापर्य मानने में एक और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कठिनाई काल को लेकर है—काल क्या जगत् के पूर्व भी था? यदि हां, तो वह क्या था जो तब काल का विषय था? यदि काल जगत् के पूर्व नहीं था तो कामना और जगत् में पौर्वापर्य कैसे होगा? इस प्रकार जगत्-कामना, कामना के विषयभूत जगत् और उसकी सिद्धि को अनादि मानना आवश्यक प्रतीत होता है। यहाँ कहा जा सकता है कि यह सब तो तर्क या विचार की बाध्यता हुई न कि यह वस्तुस्वरूप की बात हुई। तो इसका उत्तर होगा कि ये सब प्रश्न विचार ही के कारण हैं, 'अनादि' शब्द भी विचार की सीमा का ही संकेत है। इसलिए बुद्ध के समान इन्हें अतिप्रश्न के विषयं या कबीर के समान 'है जैसा तैसा रहै' कहना ही ठीक है।

इधर विज्ञान ने भी जगत् की उत्पत्ति को लेकर खोज आरम्भ कर दी है। अभी तक वैज्ञानिक लोग जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह यह है कि किसी समय, खरबों-खरब वर्ष पहले, न देश था न काल, न भौतिक तत्त्व था। तब केवल एक पिण्ड मात्र था। वास्तव में तो उसे अण्ड ही कहना चाहिए। इस अण्ड में अकस्मात् एक बृहत् विस्फोट हुआ और उसमें से भूत-भौतिक और देश-काल की युगपत् उत्पत्ति हुई। उसके खरबों वर्ष बाद पृथ्वी पर जीवन का आविर्भाव हुआ और उसी के क्रम में मनुष्य का जन्म हुआ। इस धारणा के अनुसार जगत् का तत्त्व इन्द्रिय-गोचरता है। यह जो 'बाहर' दिखायी देता-सुनायी देता है वह जगत् है, यद्यपि इसका मूल अतीन्द्रिय ऊर्जा-तन्त्र ही है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या इन्द्रिय और उसका अधिष्ठाता-द्रष्टा—ये भी जगत् ही हैं या कि ये जगत् के बाहर हैं? और सबसे बड़ा प्रश्न यह कि जब न देश था और न काल तब भूत-भौतिक और ऊर्जा भी कैसे हो सकते थे? यदि देश और काल का आविर्भाव महापिण्ड (अधिक अर्थगर्भ शब्द का प्रयोग करें तो कहें 'ब्रह्माण्ड') के विस्फोट के साथ हुआ तो उस विस्फोट से पूर्व भी कुछ होना चाहिए, चाहे वह महाशून्य ही क्यों न हो! किन्तु प्रश्नों का प्रश्न यह कि इस 'महाशून्य' में से 'महाविस्फोट' कैसे और क्यों हुआ? इसके सम्बन्ध में आर्ष कवि का यह निरूपण ध्यातव्य है—

> ना सदासीन्नोसदासीत् तदानीम्, नासीद्रजो नो व्योमा परोयः।
> किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।
> न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, ना रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
> आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धावन्यन्न परः किंचनास।।[2]

16.129.1-2

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अस्तु उस 'एकाकी' के मन में तब इच्छा हुई बहुस्याम्। विज्ञान को 'सृष्टि की इच्छा' की यह पदावली उपलब्ध नहीं है। किन्तु व्याख्या की दृष्टि से इस पदावली का कोई लाभ भी नहीं है, क्योंकि उस अवस्था में जब सदसत् से अतीत केवल 'वह एक' ही था तब उसके 'मन' में 'इच्छा' का आविर्भाव कैसे और क्यों हुआ? यह 'इच्छा' कैसी थी? ये प्रश्न परिभाषया ही विचारगम्य नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें प्रयुक्त सब पद अवाच्य और अनवधार्य की ओर अनियत्त संकेत भर करते हैं।

किन्तु इस सब ऊहापोह में जो एक बात उभर कर आती है वह यह कि बाह्य कुछ, भौतिक तथता में अन्तस्थ कुछ, को पूर्वगृहीत मान कर जगत् के आविर्भाव और इसकी विद्यमानता को नहीं समझा जा सकता। यदि इस पर यह कहा जाय कि जगत् किसी के समझने की अपेक्षा ही कहाँ रखता है? तो फिर प्रश्न होगा कि उस अवस्था में 'जगत् है', यह भी क्यों कर कहा जाय? क्योंकि 'जगत् है' इस कथन में ही इसकी ज्ञान-विषयता पूर्वगृहीत है! इस विषय की अविज्ञेयता केवल साधारण वस्तुविषयक पदावली और अवधारणाओं के लिए ही अगम्यता की द्योतक है, प्रज्ञा के लिए नहीं!

किन्तु यहाँ एक आधारभूत कठिनाई उपस्थित हो जाती है—विषयी और विषय के द्वैत की और इस द्वैत के बीच अलंघ्य खाई की। ज्ञान में विषयी विषय को 'जानता' है, किन्तु यह पाया गया है कि इस प्रक्रिया में विषय अपनी निरपेक्ष निजता में अक्षुण्ण नहीं रहता। वह विषयी के अपने कल्पित विषय-रूपों से आरोपित हो जाता है। तब यह भी कह सकते हैं कि विषय विषयी की अपनी विषय-कल्पना से भिन्न कुछ होता ही नहीं। अथवा यह भी कह सकते हैं कि वह (विषय) विषयी को उसकी अपनी कल्पना से रूपित हो कर ही गम्य होता है। वास्तव में थोड़ा गहराई से देखा जाय तो इस दूसरे विकल्प में विषय की निरपेक्ष उपस्थिति भी विषयी की अपनी कल्पना ही ठहरती है। विषय की स्वतंत्रता की बात कितनी कल्पित है यह इस बात से देखा जा सकता है कि यह स्वतन्त्रता केवल बाह्येन्द्रियों के विषयों में ही लक्षित की जाती है जबकि विषय तो अन्तरेन्द्रिय और बुद्धि के भी होते हैं, प्रथम के वेदना-विषय रूप में और दूसरे के विकल्प-विषय रूप में या तत्त्व रूप में। वास्तव में तो बाह्येन्द्रिय-विषय भी वेदना और विकल्प से व्यवहित रूप में ही प्रस्तुत होते हैं, केवल अन्तरेन्द्रिय और बुद्धि के विषय ही बाह्येन्द्रियों से अव्यवहित रूप में प्रस्तुत होते या हो सकते हैं। किन्तु बाह्येन्द्रिय भी उसी प्रकार विषयी के ज्ञान-व्यापार की अंग होती है जिस प्रकार अन्तरेन्द्रिय और बुद्धि होती है। बल्कि बाह्येन्द्रिय पूर्णतः

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषयिनिष्ठ ही होती है, केवल बुद्धि में ही विषयिनिष्ठता के अतिक्रमण की सामर्थ्य होती है, जहाँ तक यह उस में हो पाती है। बाह्येन्द्रिय विषयों की तथाकथित 'स्वतन्त्रता' का मूल प्रथमत: तो जीव क आद्य जगद्भाव में होता है और अनन्तरत: विकल्प में होता है।

हमारे इस प्रतिपादन पर आपत्ति हो सकती है कि बुद्धि तो बाह्येन्द्रिय और वस्तु के बीच व्यवधान ही बनती है, इस व्यवधान के बिना बाह्येन्द्रिय वस्तुओं का अव्यवहित प्रत्यक्ष करती है—चक्षु वर्ण और आकार का, श्रवण ध्वनि का आदि—जो वर्ण और आकार आदि विकल्प के कारण उस वस्तु के गुणों के रूप में गृहीत होते हैं जो वस्तु कहीं नहीं होती। किन्तु यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। सर्वप्रथम, वर्ण, गन्ध आदि भी उसी प्रकार इन्द्रियों के कारण वर्ण और गन्ध आदि बनते हैं जिस प्रकार अन्तरेन्द्रिय के कारण अनुकूल और प्रतिकूल वेदनाएँ बनती हैं। किसी भी स्तर पर बाह्येन्द्रिय विषय वासना-रहित नहीं होते, ये तत् तत् जीव की वासनाओं के अधीन ही जीव के विषय बनते हैं। यहाँ तक कि जीवों के इन्द्रिय-यंत्र तक जाति-विशिष्ट प्रकार के होते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो सब जीवों के बाह्येन्द्रिय विषय समान होने चाहिएँ, जो कि नहीं होते। अब यदि इससे आगे यह भी कहा जाये कि इन्द्रियों का अस्तित्व भी वासनाओं से ही है तो यह अनुचित नहीं होगा। यों डारविन के सिद्धान्त में जीवों में अंगों के विलुप्त होने का उल्लेख है और उसकी व्याख्या उन अंगों की उन जीवों में उपयोगिता का समाप्त होना (अप्रयोग—डिस्यूज) बताई गई है। यह व्याख्या इन्द्रिय-यंत्रों के वासनामूलक होने की पुष्टि करती है। जहाँ तक इन्द्रियों का प्रश्न है, वे तो वासनाओं की ही नामान्तर भी कही जा सकती हैं। रसना रसास्वादन की इच्छा की और चक्षु रूप-दर्शन की इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र कही जा सकती है और जिह्व और चक्षु-गोलक इन इन्द्रियों के उपकरणों के रूप में रचित कहे जा सकते हैं। इस प्रकार डारविन ने ठीक ही इन्द्रियों को उपयोगिता से जोड़ा है, जिसका मूल भी इच्छा में ही है—जीने की इच्छा। उत्तरवर्ती जीव वैज्ञानिकों ने 'इच्छा' और 'उपयोगिता' को 'अवैज्ञानिक' अवधारणाएँ मान कर इन्हें शुद्ध भौतिकतापरक पदावली से स्थानान्तरित कर दिया है, किन्तु इसका औचित्य केवल विज्ञान की सैद्धान्तिक सीमा-निर्धारण की दृष्टि से ही है, व्यापकतर सत्य की दृष्टि से या जगत् का स्वरूप समझने की दृष्टि से नहीं है।

जगद्विषयक उपर्युक्त विवेचन को आधार बनाते हुए उपिनषद् के 'स अकामयत्' को इस अर्थ में समझा जा सकता है और जगत् को चेतना के जगद्भाव का प्रतिफल कहा जा सकता है। यह भाव चेतना में इस प्रकार आद्य

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रूप से निहित रहता है कि जीव इस भाव के भीतर ही अस्तित्व में आता है। भ्रूणावस्था में गर्भ का आश्वासन, आँख खोलने से पहले शिशु का स्तन खोजना ये सब जगद्भाव की आद्यता को प्रदर्शित करते हैं। इस भाव के अधीन जीव ऐन्द्रिक विषय को उसके आधार में स्वतन्त्रतः प्रतिष्ठित एक व्यवस्था के अंग के रूप में भावित करता है। इसे जैव अस्तित्व का प्रतिष्ठापक धर्म भी कह सकते हैं और जीव द्वारा अपने देहावतरण के लिए प्रतिष्ठापित मंच भी कह सकते हैं। इस अवतरण के लिए देहायतन और जगत्-मंच की रचना का रूप उन संस्कारों से निर्धारित होता है जिनका स्रोत अनादि है। 'अनादि' शब्द यहाँ काल-वाचक नहीं है बल्कि मूल की अतलता का वाचक है—अतलता के अदैशिक अर्थ में। इस अनादिता को क्रमशः व्यष्टि जीव की जातीय आनुवंशिकता में, जैव आनुवंशिकता में, जातीय आनुवंशिकता में और जैव आनुवंशिक़ता को भौतिक के जैविक में उद्भूत होने के प्रयत्न में भी देखा जा सकता है। जगत् को इस प्रकार परिभाषित करने का यह औचित्य तो है ही कि इससे जातिगत और व्यक्तिगत विषयों के रूप-भेद की व्याख्या होती है, इससे जगत् से उस निवर्तन की योग्यता की व्याख्या भी होती है जो योग्यता मनुष्य में लक्षित होती है।

जगत् को चेतना का जगद्भाव या उस भाव का प्रतिबिम्ब मानने पर भूत-भौतिक से लेकर सम्पूर्ण जीव-सृष्टि और मनुष्य इस भाव के विभिन्न रूप, विभिन्न आयाम और विभिन्न स्तर हो जाते हैं। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि 'चींटी का जगत्', 'वानर का जगत्' और 'सिंह का जगत्' जबकि सार्थक पद हो सकते हैं इससे यह निष्पन्न करना कि जगत् भौतिक और जैविक व्यष्टियों-जातियों की विषयिताओं का समूह मात्र है, उसका अपना कोई स्वकीय अस्तित्व नहीं है, जो अस्तित्व विभिन्न विषयिताओं में विभिन्न विषयों के रूप में प्रतिभासित होता है, बौद्धों और काँट की स्वलक्षण वस्तु जैसे, यह एक अविश्वसनीय सिद्धान्ताग्रह ही प्रतीत होता है, क्योंकि स्वयं ये विषयिताएँ अपने विषयों को स्वतन्त्र मानकर ही प्रवृत्त होती हैं। विषयों की इस स्वतन्त्रता को स्वीकार किये बिना जैव प्रवृत्ति भी अपने को अप्रतिष्ठित ही अनुभव करती है, जैसा कि भ्रान्ति के अनुभव में जैव व्यवहार को देखने पर हम पाते हैं। इस आपत्ति पर यहाँ हम विस्तृत विचार नहीं कर केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि 'विषय की स्वतन्त्र सत्ता' यह जगद्भाव का एक मूल घटक है। जगद्भाव जगत् को काम्य और अनुसन्धेय स्वतन्त्र सत् के रूप में आक्षिप्त करके ही प्रवृत्त होता है। इसके बिना जगत्प्रवृत्ति निराधार हो जाती है। किन्तु इस 'स्वतन्त्रता' से जगत् की वासनामूलकता या जगद्भावमूलकता असिद्ध नहीं होती। चींटी के लिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

'चींटी का जगत्' ही स्वतंत्रतः होता है न कि 'सिंह का जगत्', जो कि चींटी के लिए होता ही नहीं। किन्तु चींटी और सिंह के जगत् उनके लिए उनकी विषयिताओं के जगत् नहीं होते, वे उनके लिए अपनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के आश्वासन के साथ ही प्रतिष्ठित होते हैं।

किन्तु यह एक विचित्र बात है कि जगत् का सत्ता-स्वातंत्र्य चेतना के जगद्भाव से किंचित् निवर्तन के साथ ही स्फुटता-लाभ करता है, उसके बिना चेतना अपने जगद्भाव को जाने बिना उससे तदात्म रहती है। चेतना की जगद्भाव से स्वतंत्रता का सूत्रपात चेतना के आत्मचेतन होने पर होता है जब चेतना विषय-विषयी, ग्राह्य-ग्राहक के द्वैत में उद्भिन्न होकर अपनी विषयिता को विषय से स्वतन्त्र देख पाती है। चेतना की विषय-विषयिता में यह उद्भिन्नता स्वयं से विषयी को विषय से या जगद्भाव से मुक्त नहीं करती, यह उसे जगद्भाव की अतिशयता भी दे सकती है, प्रायः देती ही है, किन्तु यह उसके लिए उससे मुक्ति की सम्भावना का द्वार भी खोलती है। इस उद्भिन्नता के बिना चेतना जगद्भावमय रहती है, उससे कम या अधिक संपृक्त नहीं रहती। उदाहरणतः पशु अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक कामासक्त या बुभुक्षु नहीं होता, किन्तु मनुष्य होता है। इसीलिए पशुओं को प्रकृति का अंग कहा जाता है, मनुष्य को नहीं कहा जाता। मनुष्य को अपनी 'प्रकृति' के लिए भी उत्तरदायी माना जाता है। इस प्रकार वह अपने में जागतिकता की अतिशयता के लिए भी उत्तरदायी होता है और उसकी न्यूनता के लिए भी—यों इस न्यूनता के लिए उसे 'उत्तरदायी' नहीं कह कर 'उसका साधक' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, वह स्वरूपतः जगत् के बाहर होता है—अपना स्वयं नियामक। ऐसा वह अधिकांशतः वास्तव में होता नहीं है, वह भी अधिकांशतः पशु के समान अपनी प्रकृति से ही नियन्त्रित रहता है, बस केवल यह 'प्रकृति' दैहिक नहीं होकर चैत्त होती है। किन्तु यह दूसरी बात है।

किन्तु मनुष्य की चेतना का आत्मचेतन होना उसकी विषयता के स्वरूप को भी शेष जीवों की चेतना की विषयता से अधारभूत रूप से भिन्न कर देता है। इसका कारण यह कहा जा सकता है कि आत्मचेतना का पहला विषय आत्म ही होता है और शेष विषय इससे उपलक्षित होकर घटित होते हैं। इस प्रकार एक अर्थ में वह, पशु से भिन्न, विषय का स्रष्टा और अधिष्ठाता होता है। जिन्हें हम 'प्राकृतिक विषय' भी कहते हैं—पत्थर, पहाड़, जीव-जन्तु आदि—उसके लिए वे भी प्राकृतिक नहीं रहते, वे भी मनुष्यकृत हो जाते हैं, क्योंकि वे अब प्रत्ययमूलक हो जाते हैं।[3] पत्थर 'पत्थर' शब्द से, यह शब्द किसी अध्यवसाय से,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और अध्यवसाय अध्यवसायों की अनन्त व्यवस्था से अन्त:प्रविष्ट हो जाता है और इसी रूप में वह मानव-चेतना के लिए विषय बनता है। विषय के इस रूपान्तरण के कारण ही पत्थर उपादान और उपकरण बनता है। मनुष्य का सम्पूर्ण जगत् इसी प्रकार रूपान्तरित जगत् है। निश्चय ही यह भी जगत् ही है, पशु के जगत् के समान ही, किन्तु ऐसी चेतना के जगद्भाव से निष्पन्न जिसके लिए यह भाव अनिवार्य नहीं है, बल्कि जो इस भाव की अधिष्ठाता है और इस कारण इसके लिए स्वयं उत्तरदायी है। किन्तु जैसा कि हमने ऊपर कहा, उसका यह उत्तरदायित्व उसमें इस भाव के निरसन, इस भाव से उन्मग्न होने, की योग्यता के रूप में ही है, अन्यथा सहज रूप से तो वह जगद्भाव में ही रहता है, यद्यपि अपनी इस योग्यता के कारण यह भाव उस में न्यून या अधिक मात्रा में रहता है।

वास्तव में मनुष्य में जगत् से मुक्ति की यह योग्यता एक सम्भावना के रूप में ही विद्यमान नहीं होती बल्कि उसमें इस सम्भावना के चरितार्थन की पर्येषणा के द्वारा यह योग्यता अपने को प्रकट भी करती रहती है। सच बात तो यह है कि मनुष्य में जगद्भाव, पशु के समान ही सहज होने पर भी, अपने से मुक्ति की पर्येषणा से सर्वत्र व्यवहित दिखायी देता है और यह पर्येषणा जगत् की पर्येष्यता को सदैव सन्देहास्पद बनाये रखती है; जैसा कि हम कर्म के औचित्य-विचार के रूप में और अनुचित पर पश्चात्ताप के रूप में उसमें सर्वत्र देखते हैं। किन्तु तब भी मुक्ति की यह पर्येषणा साधारणत: हम में इतनी क्षीण और उचित-अनुचित का विवेक इतना धूमिल और व्यामिश्रित होता है कि इसे नगण्य ही कहा जा सकता है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि जगत् से मुक्ति की पर्येषणा एक औदात्य-बोध से, एक वरेण्यता से उपरंजित रहती है जबकि जगद्भाव की पर्येषणा एक अनौदात्य-बोध और त्याज्यता-बोध से उपरंजित रहती है। इन भावों के इन लक्षणों का यह बोध मनुष्य में उतना ही सहज रूप में लक्षित होता है जितने सहज रूप में उसमें जगद्भाव में प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस प्रवृत्ति को प्रेयात्मक और उस बोध को श्रेयात्मक कहा जाता है। किन्तु इस प्रवृत्ति में सदैव प्रियता ही होती हो, ऐसी बात नहीं है। उदाहरणत: ईर्ष्या, द्वेष, अनौदार्य, कामासक्ति, लोलुपता तथा प्रभुता के अबाध अन्वेषण आदि में प्रियता कल्पित तो होती है किन्तु वह प्राय: ही लब्ध नहीं होती, सिद्धि मिल जाने पर भी वह सदैव सुखकर नहीं होती, इनका सुख प्राय: इनकी सिद्धि की कल्पना में ही होता है स्वयं सिद्धि में नहीं। यह 'प्यास लगी है, ओस चाटती'[4] जैसी बात होती है। या ऐसा भी कह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकते हैं कि इनकी सिद्धि कभी पूर्ण होती ही नहीं, क्योंकि इनकी कोई भी सिद्धि एक ओर और अधिक की एषणा को जन्म देती है और दूसरी ओर सिद्ध स्थिति के छिन जाने के भय को जन्म देती है। इस प्रकार जागतिक अन्वेषण यद्यपि प्रेयात्मक तो होते हैं किन्तु इनकी प्रियता वास्तव में केवल काल्पनिक ही होती है। ये सब अन्वेषण उपर्युक्त प्रकार से तो आत्मव्याघातमक होते ही हैं, ये अन्यों के साथ संघर्षों को भी जन्म देते हैं।

चेतना जगत् में यद्यपि भौतिक स्तर पर भी सामान्य नियम से शासित परस्पर संघर्षशील व्यष्टियों के रूप में व्यक्त होती है, जैसे अणु में धनात्मक और ऋणात्मक परमाणु, किन्तु जैव स्तर पर यह जातिक सामान्य के आधार में अन्तर्ग्रथित वैयष्टिक सावयवता का रूप लेती है और यह व्यष्ट्यात्मक अवयवी संवेदी क्रिया-नियोजक का रूप लेता है। अहंकार इस व्यष्टि अवयवी का आधार बनता है। अहंकारमूलक यह सम्पूर्ण जैव अस्तित्व कुछ इस प्रकार के नियम से शासित है कि यह परस्पर वैयष्टिक या जातिक संघर्ष को जन्म देता है। यहाँ तक कि जीव परस्पर भोज्य-भोजक तक होते हैं। किन्तु मनुष्य के स्तर पर चेतना में एक क्रांति घटित दिखायी देती है। यह क्रांति यह कि मनुष्य अहंकार का अतिक्रमण कर सकता है और अपने को सामान्य के एक उदाहरण के रूप में भी देख सकता है और अपने को अन्य के विषय के रूप में भी देख सकता है। मानव-समाज इस अतिक्रमण के आधार पर ही बनता है।[5] किन्तु व्यवहार में मनुष्य प्रायः यह अतिक्रमण करते हुए भी अहंकार से ही परिचालित देखा जाता है और इस प्रकार सामाजिक व्यवहार भी प्रायः स्वार्थमूलक समायोजनों के रूप में ही घटित होता है। सामाजिक नियम जबकि अहंकारातिक्रामी चेतनामूलक होते हैं व्यक्ति-व्यवहार, अपवादों को छोड़कर, आहंकारिक चेतनामूलक ही होता है। इस कारण व्यक्ति सामाजिक नियमों का पालन भी अधिकांशतः बाध्यतावश या सुविधादृष्टि से ही करते हैं। व्यक्ति-व्यवहार जब निराहंकारिक होता है तब नैतिक कहा जाता है। किन्तु वास्तव में नैतिक बोध हमारे कर्म का आधार बहुत अपवाद रूप में ही होता है। यही कारण है कि दो समूहों या राज्यों के सम्बन्ध शुद्ध स्वार्थ से ही शासित होते हैं, एक समाज के नियमों के समान निराहंकारिक बोध से शासित नहीं होते। द्रष्टव्य है कि अधिकांश पाश्चात्य समाज-चिन्तक तो समाज को भी अहंकारमूलक पारस्परिकता के आधार पर ही निर्मित मानते हैं, जिसे वे व्यक्तियों के सुविधामूलक समझौते के रूप में देखते हैं।[6] उनकी इस मान्यता का कारण यह है कि उनकी पदावली में 'नैतिक बोध' जैसे किसी पद के लिए कोई अवकाश नहीं है। किन्तु यह पद सार्थक पद है यह मनुष्य की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अहंकारातिक्रमण की योग्यता से ही सिद्ध होता है, जो योग्यता भाषा में सर्वनामों के प्रयोग से सिद्ध होती है।

यों तो भाषा मात्र का प्रयोग ही मनुष्य को जगत् से किंचित् ऊर्ध्वतर भूमि पर प्रतिष्ठित कर देता है और उसमें भी 'मैं' का सार्वनामिक प्रयोग आधारभूत रूप से उसकी ऊर्ध्वतरता सिद्ध करता है, किन्तु इस अतिक्रमण के द्वारा वह एक दूसरे जगत् की ही सृष्टि कर डालता है और उसे परमार्थ मान कर उसमें अपना बसेरा कर लेता है। उसका यह जगत् अध्यवसायात्मक बुद्धिमूलक जगत् है। दार्शनिकों ने जिसे प्रातीतिक, प्रातिभासिक या व्यवहार-जगत् कहा है वह मानव का यही ऊर्ध्वतर लोक या जगत् है। जर्मन दार्शनिक इम्मेनुएल काँट ने इसकी चेतनागत संरचनाओं का बहुत सूक्ष्म मानचित्र प्रस्तुत किया है और उस मानचित्र को अतिक्रामी (ट्रांसेडेंटल) कहा है। किन्तु कांट का इस अतिक्रामिता से अभिप्राय वास्तव में मात्र चेतना के जगद्दर्शन विषयक जाति-स्वभाव से है। इस प्रकार चिड़िया के घोंसले का रूप और उसके निर्माण में चिड़िया की प्रवृत्ति भी अतिक्रामीं ही कही जायेगी। किन्तु उसका यह मानचित्र केवल भाषा-भाषी मनुष्य के इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् तक ही सीमित है और इसमें भी वह इसके अहंकारातिक्रामी रूप की ओर ध्यान नहीं देता। किन्तु मनुष्य का वास्तव व्यवहार-लोक उसके स्वकीय सर्जन का लोक है—घर-परिवार, मिथक, पुराण, धर्म, कला, शिल्प और विज्ञान का लोक। इस लोक के रचना-रूपों का बहुत विवेचन हुआ है, किन्तु यहाँ हमारे लिए वह सब प्रासंगिक नहीं है। यहाँ हमारे लिए केवल यह प्रासंगिक है कि ये सब लोक-रचनाएँ मनुष्य की जगद्भाव से उत्क्रमण की योग्यता में प्रतिष्ठित होने पर भी उसे कोई वास्तविक उत्क्रामिता नहीं देतीं। उदाहरणतः काँट ने जिसे फ़िनोमिना (व्यवहार या प्रतिभास जगत्) कहा है उसे हमने दिखाया है कि वह किस प्रकार भाषामूलक है और इस प्रकार चेतना के आत्मचेतन होने से निष्पन्न होता है, और यही निष्पत्ति आगे चलकर मनुष्य-सृष्ट वस्तु-लोक को सम्भव करती है। इस प्रकार यह पुश-सुलभ 'प्राकृतिक जगत्' से उत्क्रमित लोक है। किन्तु यह लोक चेतना की जगद्वासना का प्रतिफल ही होता है उस वासना से उत्क्रमित नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य की समाज-व्यवस्था, जिसमें राजनीति, वाणिज्य, कृषि आदि सम्मिलित हैं और शास्त्र रचनाएँ भी, इसके अन्तर्गत ही आ जाते हैं। राजनीति हमारे उपर्युक्त प्रतिपादन को अधिक स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती है—यद्यपि यह समाज द्वारा अपने अनुशासन के लिए रचित तन्त्र है और इस प्रकार जगत् से उत्तीर्णता का द्योतक है, किन्तु इसमें उत्तीर्ण चेतना जगद्भाव की दिशा में ही उन्मुख होती है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसका अध्यक्ष राजा ऐश्वर्य और बल का प्रतीक माना जाता है। इस प्रकार राजनीति मनुष्य की रागात्मक वृत्ति में ही रूढ़ होती है, यद्यपि इसका मूल समाज के आत्मानुशासन के संकल्प में और इस प्रकार उत्क्रमित चेतना में होता है।[7] जगद्वासना से वास्तविक उत्क्रमण केवल धर्म और दर्शन में ही किंचित् देखा जाता है, यद्यपि दर्शन सदैव जगत् के : जगद्वासना के : उत्क्रमण को साध्य रूप में नहीं देखता। बहुत से दार्शनिक सिद्धान्त तो जगत् को ही परमार्थ रूप में प्रतिपादित करते हैं। दर्शन की उत्क्रामिता वास्तव में उसकी विषय-कल्पना में होती है। दर्शन के विषय अनिवार्यतः वस्तुओं के सामान्य धर्म होते हैं और इस प्रकार अतीन्द्रिय होते हैं। इसी प्रकार धर्म भी अधिकांश में ऐहिक सुखों की प्राप्ति या दुःखों की निवृत्ति की कामना से ही प्रेरित होता है, इनके उपाय को चाहे वह लोकोत्तर में ही स्थित देखता हो। कुछ विचारकों ने काव्य को भी जगद्भाव से उत्क्रामी के रूप में ही देखा है, जैसा कि भारतीय रस-सिद्धान्त में विशेष रूप से प्रतिपादित मिलता है। उनके अनुसार रस भाव की सात्त्विक दशा है। किन्तु यह ठीक नहीं है। काव्य और कलाओं में अधिकांशतः लोक और लौकिक भाव और विचार-दशाएँ ही निरूप्य और अवगाह्य होती हैं और उसमें मुख्यतः उन्हीं का पोषण भी होता है।

इस प्रकार संस्कृति भी मुख्यतः स्तरान्तर पर जगद्भाव का उपचार ही दिखायी देती है। किन्तु क्योंकि मानव-चेतना मूलतः ही उत्क्रमित चेतना है : आत्मचेतन होने से : इसलिए संस्कृति मात्र को उस उत्क्रमण का उच्चतर स्तर कहा जा सकता है। किन्तु केवल इस उत्क्रांति को जगद्वासना से मुक्ति कहना ठीक नहीं है। जैसा कि हमने ऊपर देखा था, मनुष्य में जगद्वासना की न्यूनता और अधिकता दोनों लक्षित होते हैं। जगद्भाव की यह पशु से भी अधिकता इस उत्क्रांति से ही सम्भव होती है। किन्तु इसी उत्क्रांति से इस वासना का नियमन और निरसन भी सम्भव होता है। इस वासना के मात्रा-भेद की कोई सीमा नहीं है। एक ओर आखेटक, काम-कामी और धन-लोलुप होते हैं तो दूसरी ओर बुद्ध और परमहंस भी होते हैं। जगत्परायणता को निकृष्ट, अर्थात् चेतना का अधोन्मुख स्तर माना जाता है और इससे निष्कृति को उसका ऊर्ध्वोन्मुख स्तर माना जाता है।

यहाँ सर्वप्रथम यह द्रष्टव्य है कि मनुष्य की महान् सभ्यताओं के आधार में यह जगत्परायणता ही मुख्यतः रहती है, यद्यपि इसी के अन्तर्गत मनुष्य ने ऊर्ध्वोन्मुख जगदुत्क्रामी विचारों और भावनाओं को भी जन्म दिया है। किन्तु इन सभ्यताओं ने भी अपने मंथन का नवनीत जगदुत्क्रामी विचारों और उन विचारों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection.

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को जीवन में चरितार्थ करने वाले व्यक्तियों को ही माना है। सब सभ्यताओं के वणिक वर्ग और राजन्य वर्ग, जो जगद्भाव की अतिशयता में रहते हैं, योगियों और संन्यासियों को ही अपना पूज्य मानते हैं और इनके भरण-पोषण में दिये गये धन को ही अपना सार्थकतम अर्जन मानते हैं। विद्वानों, विचारकों और कलाकारों को भी ये लोग अपने प्रकार के लोगों से इसी कारण अधिक सम्मान देते हैं कि ये लोग उनकी अपेक्षा कम जगत्परायण समझे जाते हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जगद्भाव या जगत्परायणता से जगद्विमुखता को क्यों श्रेष्ठतर माना जाता है और इस मानने का क्या औचित्य है?

प्रथम प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं। प्रथम यह कि ऐसा मानना चेतना के उस मूल अभिनिवेश के अनुकूल है जो इसके भौतिक से आत्मचेतनता के स्तर तक के आरोहण में अन्तर्निहित है। दूसरा यह कि इस पद की प्राप्ति से कुछ ऐसा सुख प्राप्त होता है जो जगद्भाव में अनुपलभ्य होता है। दूसरे प्रश्न का उत्तर प्रथम प्रश्न के उत्तर से ही आपादित होता है।

किन्तु प्रथम प्रश्न के दोनों उत्तर प्रथम दृष्ट्या सन्देहास्पद लगते हैं। एक पुराने श्लोक की एक पंक्ति है—'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला', अर्थात् "कामादि में जीवों की प्रवृत्ति सहज होती है, इसे जीव-प्रकृति भी कह सकते हैं, परिणामतः इससे निवृत्ति अत्यन्त दुराराध्य होती है, किन्तु यह अपने फल में बहुत उत्कृष्ट है, प्रसादक है और यह महत्तम सुख की प्रापक होती है।" इसमें श्लोक का अन्तिम पद एक प्रलोभन कहा जा सकता है जिसकी वास्तविकता के लिए कोई प्रमाण नहीं है—"इस पार प्रिये मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा!"—जबकि प्रथम : इस पार के सुख : की वास्तविकता प्रत्यक्ष है। जगत् का मूल ही काम है, जैव इच्छाएँ ही जीव में क्रिया-प्रवर्त्तक होती हैं और यह सर्वव्यापी जीव-धर्म है। यह ठीक है। किन्तु साथ ही यह भी उतनी ही वास्तविकता है कि चेतना में भौतिक से मानव तक का, चेतना के नितान्त जाड्य से उसके आत्मचेतन होने तक का, एक उत्तरोत्तर क्रम मिलता है और यह क्रम चेतना के विषय-तद्भाव से विषय-मुक्ति का क्रम है। यह क्रमिक उत्तरोत्तरता चेतना की भव्यरूपता और किसी लोकोत्तर भव्य के बोध की अन्तर्गर्भिता का संकेत देती है। इस प्रकार चेतना की दो परस्पर विरुद्ध वास्तविकताएँ कही जा सकती हैं। किन्तु वास्तव में किसी वस्तु का स्वरूप उसका साध्य रूप ही होता है उसका प्राप्तरूप नहीं, क्योंकि प्राप्तरूप के स्वरूप होने पर उसमें भव्यता होगी ही नहीं। ऐसे में वस्तु का प्राप्तरूप उसका पर-रूप हो जाता है जो अतिक्रमणीय होता है। चेतना के प्राप्तरूप की परता और स्वरूप की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भव्यता और साध्यता मानव-चेतना के स्तर पर ही आत्मचेतन होती है, उससे पूर्व प्राप्तरूप ही उसका प्रेरक होता है और साध्य रूप अचेतन रूप से चेतना को नियुक्त रखता है। इस कारण मानव-चेतना के स्तर पर इन दो विरुद्ध वास्तविकताओं : प्राप्त पर-रूप और भाव्य स्वरूप : में अन्तर्द्वन्द्व लक्षित होता है। प्राय: सभी व्यक्तियों में एक सहज प्रवृत्तिपरायणता लक्षित होती है, किन्तु साथ ही इस सहज प्रवृत्ति की अवांछनीयता का यत्किंचित् बोध भी उतना ही सहज दिखायी देता है। कुछ में यह बोध अधिक स्पष्ट देखा जाता है जिससे वे निरन्तर एक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में रहते हैं, और कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें यह बोध अधिक प्रखर, अधिक आग्रही होता है। किन्तु अधिकांश लोग इसे दु:साध्य पा कर इससे विमुख ही रहते हैं। सामाजिक स्तर पर यह साध्य-बोध या स्वरूप-बोध ही सामाजिक व्यवहार का नियामक माना जाता है और जैव प्रवृत्ति व्यक्ति की सहज दुर्बलता के रूप में देखी जाती है। यद्यपि चेतना के पाशव स्तर पर यह बोध अस्फुट रूप में भी दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु उस स्तर पर चतना के विकास का क्रम चेतना में इस बोध के अचेतन अनुसन्धान या अन्त:प्रेरक के रूप में ही समझा जा सकता है। जहाँ तक दूसरे प्रश्न के उत्तर : निवृत्ति के महाफल-प्रद होने : का सम्बन्ध है, उसकी वास्तविकता के लिए मूल प्रमाण तो यही हो सकता है कि जिन्होंने उस सुख का अनुभव किया है उनका साक्ष्य यही कहता है। किन्तु इसके लिए युक्ति भी दी जा सकती है—

जगद्भाव को विषय-भाव भी कहा जा सकता है और काम भाव भी—'काम' शब्द को उसके व्यापक अर्थ में लेते हुए। दूसरी परिभाषा पहली को पूर्वगृहीत करती है। मानव-चेतना के लिए दोनों को पर्यायवाची भी कह सकते हैं। भौतिक और वानस्पतिक चेतना में संवेद का प्राय: अभाव होने से[8] उनमें काम वैसा नहीं देखा जाता। काप का स्थूल रूप ऐन्द्रिक होता है, सूक्ष्म रूप बोद्धिक होता है। रसना आदि का आस्वाद और कीर्ति-प्रभुता आदि की आकांक्षा ये दोनों काम ही हैं। कुछ लोग 'ज्ञान की कामना' और 'मोक्ष की कामना' में भी 'कामना' शब्द को काम-वाचक ही कह देते हैं जो ठीक नहीं है। यहाँ 'काम' शब्द का प्रयोग केवल लाक्षणिक है क्योंकि 'मोक्ष की कामना' का अर्थ है 'सब कामनाओं से मुक्ति की कामना', जो कामना नहीं कही जा सकती। अब, सब कामनाएँ मनुष्य को विषयापेक्षी बनाती हैं और 'अन्य' के साथ विग्रहात्मक सम्बन्ध में स्थापित करती हैं। अन्यों के साथ सम्बन्ध सहयोगात्मक-सामरस्य पूर्ण भी हो सकते हैं, किन्तु ऐसे सम्बन्ध वास्तविक तभी हो सकते हैं जब वे निष्काम हों। अन्यों के साथ विग्रह का सम्बन्ध उनके बाधक कारण बनने से बनता है, क्योंकि कामना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अहंकार से अतिक्रमण की योग्यता को क्षीण करती है और अहंकाराधीन व्यक्तियों के समूह में व्यक्ति परस्पर बाधक या सम्भाव्य बाधक ही हो सकते हैं। जो सब व्यक्ति सब समय बाधक ही नहीं होते हैं इसका कारण यह है कि सब व्यक्ति सब समय कामनाग्रस्त, अहंकाराधीन ही नहीं होते। सम्बन्धों की यह व्यवस्था कष्टप्रद होती है और इस व्यवस्था की अधीनता राग, द्वेष, छल-छद्म आदि को जन्म देती है। इन कामनाओं का सन्तोष सुख-प्रद होता है, किन्तु यह सुख सदैव अन्य से बाधित होने के भय से आक्रांत रहता है। दूसरे, यह सुख अपने अर्थ में अत्यन्त विपन्न भी होता है। उदाहरणत: किसी भोज्य पदार्थ की रसेच्छा उस पदार्थ के भोग से सन्तुष्ट हो जाती है, किन्तु वह सन्तोष क्षणिक भी होता है और उतने से आगे उसका कोई अर्थ भी नहीं होता। 'आगे अर्थ' से अभिप्राय है कि इसके अर्थ रसनेन्द्रियगत चेतना से आगे मनोमय, प्रज्ञात्मक या विज्ञानात्मक आयामों परक अर्थों से संपृक्त नहीं होते। इसे मैथुन कामना के उदाहरण से समझें। मैथुन-सुख भोजन के समान ही है, सिवाय इस भेद के कि इसका परिणाम क्षति और खेद में पर्यवसायी होता है। अब, भोजन की इच्छा और उसकी तृप्ति, इसी प्रकार मैथुन की इच्छा और उसकी तृप्ति इनमें बस उतना तक ही अर्थ होता है कि इनमें एक तात्कालिक सुखानुभूति मिलती है जो एक ऐन्द्रिक संवेद की समाप्ति के साथ समाप्त हो जाती है। इसी मैथुन-कामना का प्रेम में उन्नयन अथवा उसमें लय ऐसे मनोमय, और कभी-कभी विज्ञानमय भी, अर्थों का उन्मेष करता है जो अपनी गहनता और व्यापकता में अतल और अपार होते हैं। ये आयाम चेतना की प्रत्यङ्मुखता से खुलते हैं, जबकि ऐन्द्रिक चेतना नितान्त पराङ्मुख होती है। अब, चेतना प्रत्यङ्मुखता में जितनी ही गहरी उतर पाती है प्रेम का अर्थ उसके लिए उतनी ही विपुलता के साथ अपना उन्मेष करता है। यही बात अन्य ऐन्द्रिक अर्थों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, यद्यपि अन्य ऐन्द्रिक अनुभवों में चेतना के प्रत्यङ्मुखता की गहराई में अवतरण के लिए उतना अवकाश नहीं होता। अधिकांश में अन्य ऐन्द्रिक अनुभव भी अपने अतीन्द्रिय अर्थ काम के अनुषंग में ही पाते हैं, जैसे चाक्षुष अनुभव के रूपात्मक अर्थ। अवश्य चाक्षुष रूप स्वतन्त्र रूप में भी अतीन्द्रिय अर्थों के वाहक हो सकते हैं, जैसा कि कला में देखा जाता है, किन्तु उनमें वैसी गहनता नहीं होती, उनमें केवल चेतना स्थूलतर : ऐन्द्रिक : विषयों से मुक्त होकर सूक्ष्मतर : विज्ञानमय चेतनागम्य : विषयों का साक्षात्कार करती है जो साक्षात्कार एक स्वातन्त्र्य का अनुभव देता है और उदात्त सुख का प्रापक होता है। किन्तु ये रूप बहुत बार व्यंजक या सांकेतिक भी हो पाते हैं। तब ये अर्थों की अथाह राशि के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

गवाक्ष बन जाते हैं, जैसे मानो कोई विस्मृत अतीत की लौ अँधेरे के उस पार टिमटिमा रही हो। आत्मपर्यन्त रहने पर ये रूप समतल अर्थ-राशि का वैभव उजागर करते हैं।

चेतना का प्रत्यङ्मुखता में यह अभिसरण स्पष्टतः जगत् से पराङ्मुखता की दिशा में होता है। यह अभिसरण एक ऐसे अर्थ-लोक को जन्म देता है जिसकी गहराई और विस्तार अनन्त होता है। ये अर्थ चेतना के अपने ही अन्तर्निहित कोश के उद्घाटन जैसे, अपने ही विस्मृत अतीत के स्मरण जैसे होते हैं, किन्तु तब भी अनुसन्धान से नया कुछ पा लेने का सा सुख देते हैं। किन्तु स्पष्ट है कि यह अनुसन्धान नयी कोई वस्तु-सूचना नहीं देता, केवल अपने भीतर की विस्मृति का जैसे आवरण ही हटाता है, यद्यपि यह वास्तव में स्मरण भी नहीं होता, क्योंकि यह ऐसा कुछ भी नहीं होता जो कभी अपने साथ घटित हुआ हो। वास्तव में ये अर्थ जितने प्रत्यक्ष हुए-जैसे लगते हैं उतने ही ये अपूर्व सृष्ट जैसे भी लगते हैं। इनमें एक ओर ऐसी पूर्ण बाध्यता भी रहती है कि ये अर्थों के एक पूरे तन्त्र में निबद्ध होते हैं और इनके साथ यादृच्छिक व्यवहार के लिए तनिक भी अवकाश नहीं होता तो दूसरी ओर ये इस रूप में पूर्णतः वैकल्पिक भी होते हैं कि हम इन्हें किसी दूसरे तन्त्र के अवयव रूप में देखने में स्वतन्त्र होते हैं। ये इस प्रकार 'रचित' या 'सृष्ट' होने पर भी ऐसे स्वतन्त्र सत् होते हैं जो केवल 'दृष्टि सम्पन्नों' के लिए ही अवगम्य होते हैं और उनका यह अवगमन कभी अशेष नहीं होता।

चेतना के आन्तर लोक का ही यह वैचित्र्य है कि हम जितना ही इसमें गहरा पैठते हैं इसके विषय उतने ही अधिक अनवगाह्य और अपार दिखायी देते हैं। वास्तव में जिसे हम बाह्य वस्तु-लोक की अवगाह्यता समझते हैं वह भी अपने मूल में चेतना की आन्तर गहराई का ही बाह्याक्षेप होती है। कुछ लोग इन अर्थों को शब्दाश्रित विकल्प-सृष्टि मात्र मानते हैं और इस प्रकार इन्हें ज्ञानात्मक नहीं मानते। उनका यहाँ ज्ञान से क्या अर्थ होता है यह समझना कठिन है, क्योंकि बाह्य वस्तुएँ भी किसी अर्थ-तन्त्र में रूपान्तरित हुए बिना ज्ञान-विषय नहीं बनतीं और बाह्य वस्तु-सम्बद्ध ज्ञान उतना ही गहरा और व्यापक हो पाता है जितना वह इन तथाकथित वस्तुओं को उन अर्थों में रूपान्तरित कर पाता है जिन्हें ये लोग विकल्प कह कर असत्-कल्पना-जाल कहना चाहते हैं। विज्ञान इसका एक उदाहरण है। राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास और मनोविज्ञान आदि इस के दूसरे उदाहरण हो सकते हैं। जिस प्रकार विज्ञान, इतिहास आदि परक ये अर्थ वस्तुसत्य के प्रकाशक होते हैं उसी प्रकार बाह्य वस्तु-विषयों से मुक्त अर्थ भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सत्य के प्रकाशक ही होते हैं। किन्तु अब यह अर्थों का शुद्ध चैत्त लोक होता है जिसका सत्य अनुसन्धेय होता है।

ऊपर हमने इन अर्थों की तन्त्रमूलक निबद्धता और बाध्यता की बात की। यह बाध्यता कारणात्मक बाध्यता से एक प्रकार से नितान्त विपरीत होती है। तन्त्र की बाधकता हमें भौतिक या मानसिक रूप से विवश नहीं करती, यह वास्तव में हमारे स्वातन्त्र्य की स्रोत होती है। जैसे हम भाषा में चाहे जिन भी शब्दों का और वाक्य-रचनाओं का प्रयोग नहीं कर सकते, गणित में गुणा-भाग के मन चाहे फलित नहीं बना सकते, युक्ति में जो भी आपादान या निष्कर्ष नहीं दिखा सकते। यों ऐसा हम प्रायः ही करते हैं, किन्तु वह हमारी चेतनागत धूमिलता की और इस प्रकार 'अस्वतन्त्रता'की द्योतक होती है। इससे यह सिद्ध है कि ऐसा 'नहीं कर सकने' में कोई विवशता नहीं होती, जैसी कोई भारी चीज़ नहीं उठा पाने में, निर्मोह नहीं हो सकने में, स्वार्थवश औचित्य नहीं देख पाने में होती है। किन्तु अशुद्ध वाक्य-रचना, मोहवश व्यवहार, तर्क में यादृच्छिक आपादन ये हमें विवश किये बिना हमारे स्वातंत्र्य में बाधक होते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि कारण-कार्यात्मक विवशता हमारे लिए अलंघ्य होती है। बाह्य कारणता का हम उपाय से और आन्तर कारणता का आत्मसंयम से अतिलंघन कर ही सकते हैं—जहाँ तक कर सकते हैं, किन्तु यह अतिलंघन एक प्रकार से जागतिकता के अतिक्रमण से ही होता है। ये दोनों प्रकार के अतिलंघन चेतना के प्रत्यङ्मुख निवर्तन से ही सम्भव होते हैं और स्वातन्त्र्य के प्रापक होते हैं। द्रष्टव्य है कि कारण-कार्यात्मक बाधकता या विवशता सर्वाधिक दुर्लंघ्य हमारे मनोलोक में हमारे संस्कार, आवेग और वासना-मूलक होती है। यह विवशता मानव-समाज में मानव-व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में विशेष रूप से कष्ट की हेतु होती है, क्योंकि यह उद्विग्नता, क्रोध, मत्सर, ईर्ष्या, छल-छद्म और संघर्ष को जन्म देती है। इसमें अन्यों के नियोजन का उपाय युक्ति : जगद्भाव से उत्क्रमित चेतना : नहीं बनती बल्कि छल या स्वार्थ-समन्वय बनता है। इस प्रकार व्यक्ति-सम्बन्धों, या पारस्परिकता के इस लोक में अन्यों के नियोजन में सफलता हमें तात्कालिक सुख तो देती है किन्तु यह हमें कारण-शृंखला से मुक्ति नहीं देती, क्योंकि इससे हम बाहर-भीतर उभयतः कारण-शृंखला के अधीन ही रहते हैं।

किन्तु विकल्प-विषय कारण-कार्यात्मक नहीं होते—'कितने बल से प्रहार करने पर अमुक वस्तु टूटेगी' इस तथ्य का अनुसन्धान कारण-कार्य सम्बन्ध विषयक अनुसन्धान तो होता है किन्तु इसका अनुसन्धेय स्वयं कारण-कार्यात्मक नहीं होता, इसमें अनुसंन्धेय कारण-कार्य-स्वभाव होता है। कारण-कार्यता स्वयं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस स्वभाव में नहीं रहती, जो स्वभाव इन्द्रिय-विषय नहीं होकर विकल्प-विषय होता है, बल्कि उन घटनाओं में रहती है जो इस स्वभाव से युक्त रहती हैं। स्वभावगत अनिवार्यता का ज्ञान तो चेतना को आबद्ध करता ही नहीं, क्योंकि वह स्वयं कारण-कार्यात्मक नहीं होता।

किन्तु विकल्प लोक में यह विचरण हमें उस प्रसंग में तो मुक्ति देता है जो उसकी उद्भावना और अनुसंधान का होता है, किन्तु यह हमें हमारे जैविक अस्तित्वगत बन्धन से मुक्ति नहीं देता। उदाहरणतः हमारा अपने सम्बन्ध में यह ज्ञान कि हम अमुक कार्य स्वार्थवश कर रहे हैं, स्वयं तो स्वार्थमुक्त होता है और हमारे जैविक स्तर मात्र से भी मुक्त होता है, किन्तु यह अनिवार्य रूप से हमें स्वार्थमुक्त नहीं कर देता। निश्चय ही यह मुक्ति हमारे लिए स्वार्थ से मुक्ति की सम्भावना भी उपलब्ध कराती है और एक सीमा तक स्वार्थ के बन्धन को शिथिल भी करती है, किन्तु स्वार्थ से पूर्ण मुक्ति तब भी अनुपलब्ध रह सकती है, प्रायः रहती ही है। वास्तव में तो अधिकांशतः हममें यह विवेक रहता ही नहीं, विवेक रहने पर भी वह प्रायः धूमिल ही रहता है। **गीता** में जो "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता" कहा है वह विवेक-भाव रहने की स्थिति के सम्बन्ध में ही कहा है। किन्तु अधिकांश में हम विवेक के सामने अपने को असहाय ही माने रहते हैं और यह जानते हुए भी कि हम अमुक कार्य स्वार्थ के अधीन ही कर रहे हैं, उसी प्रकार करते रहते हैं।

यहाँ हमें प्रश्न करना चाहिए कि जगद्-भाव से मुक्ति ही क्यों काम्य है जब जगद्-भाव से ही जगत् है, बल्कि कहें जगद्-भाव ही जगत् है? आखिर चेतना अपने एकाकीपन, अपनी विपन्नता के निवारण की कामना से ही जगद्-रूप में प्रवर्तित हुई! भौतिक और जैविक वैविध्य, जैविक सुख-दुःख, जिजीविषा-मृत्यु, मानव-सभ्यताओं का उदय और नये उत्कर्ष, और विलय और नया उदय-उत्कर्ष और अपकर्ष, इस सबमें चेतना के अनेकानेक अर्थों में अपने को घटित और चरितार्थ करने का ही तो उपक्रम है! इस जगत् से मुक्ति में पुरुषार्थ क्या है? क्या मुक्ति की यह बात दृष्टि-विपर्यास नहीं है?

इस प्रश्न का उत्तर सम्भवतः उतना सरल नहीं है जितना हमारे उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत हो सकता है। यह तो सही है कि चेतना के आत्मचेतन होने में ही जगद्भाव से निवर्तन, उसका अतिक्रमण, या उससे उत्क्रमण घटित होता है और इस निवर्तन के विना यह भाव आत्म-अप्रकाशितवत ही रहता है : यह भाव 'होता मात्र' है, किन्तु अपने उस 'होने' को जान भी नहीं पाता। किन्तु यह आत्मचेतना जगद्भाव के निरसन को, उससे मुक्ति को वांछनीय पुरुषार्थ सिद्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं करती। आत्मचेतना को जगद्भाव के विकास, उसके उत्कर्ष और उसकी सम्पन्नता के हेतु और उपाय के रूप में भी देखा जा सकता है। मनुष्य द्वारा उपकरण-निर्माण भी उसके आत्मचेतन होने से ही सम्भव होता है और यह चेतना के जगद्भाव के साधन का ही एक रूप है—सिंह के पंजों और साँड के सींगों के समान, किन्तु इन दोनों से उत्कृष्टतर और अपनी साधकता में आत्मप्रकाशित। यही बात मनुष्य की सभ्यता के सम्बन्ध में कही जा सकती है—शिल्प, वाणिज्य, कला और राज्य-तंत्र आदि के सम्बन्ध में। ये सब चेतना की जगत्पर्येषणा के ही रूप कहे जा सकते हैं, जिनसे जगत् समृद्ध और अर्थ-विपुल बनता है और 'होने मात्र' के ऊपर अपने भोग्यत्व में आत्म-प्रकाशित होता है।

यह सही है। किन्तु किसी समय, किसी स्तर पर, आत्मचेतन चेतना उस रूप में अपने होने के अर्थ, अपने होने के औचित्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा भी करती है। इस जिज्ञासा के अंग के रूप में ही जगत् के अर्थ की जिज्ञासा भी होती है। ये दोनों जिज्ञासाएँ चेतना की आत्मचेतनता के उच्चतर स्तर पर उत्पन्न होती हैं। जिस विकल्प (सामान्यलक्षण-ग्राही चेतना) की ऊपर हमने चर्चा की वह चेतना के आत्म-प्रकाशन का एक उपाय बनता है और आत्मा के स्वरूप और उसके अर्थ-विषयक प्रश्नों को जन्म देता है। इस चेतना में ये प्रश्न उसी प्रकार सहज रूप में उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के लिए रूप सहज प्रस्तुत होते हैं। अब, आत्मचेतन चेतना प्राकृतिक भाव में प्रदत्त जगत् से असन्तुष्ट होकर, अथवा कहें उसे अपने जागतिक प्रयोजनों के लिए अपर्याप्त पा कर उपकरणों, विज्ञानों और कलाओं आदि की सृष्टि करती है और आगे इस जगत् से असन्तुष्ट होकर जगद्-भाव मात्र पर विचार करती हुई इसे भी असन्तोष जनक पाती है। इसी से जगद्-भाव के निरसन, उससे मुक्ति को पुरुषार्थ रूप में देखने का औचित्य बनता है, ऐसा कहा जा सकता है।

यहां यह ध्यातव्य है कि जो जगत् के मिथ्यात्व और दुःखिता की बात इसकी क्षणिकता या गतिकता के आधार पर की जाती है वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि परिवर्तनशीलता को नित्यनवीनता के पर्याय के रूप में भी देखा जा सकता है। कालिदास ने रमणीयता को 'प्रतिक्षण नावीन्य प्राप्त करने'—'नवीन होते रहने' से परिभाषित किया है। गीता ने मृत्यु को नवीन जन्म के आयोजन के रूप में ही देखा है और ठीक ही देखा है। परिवर्तन या क्षणिकता ही उन्नति और अन्वेषण को संभव करती है। इसलिए क्षणिकता आत्मबाधिततता, दुःखिता और मिथ्यात्व की पर्याय है, यह कहने का कोई औचित्य नहीं है। किन्तु तब

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी, 'जगत् दुःख है' यह बोध ठीक ही लगता है। कोई भी तो उपलब्धि नहीं है जो अपने भीतर 'देखने' पर क्षण भर के लिए भी अपने में स्थिति दे सके! जगत् की दुःखिता इसी में है—जगद्भाव में आत्मा के सदा और सर्वत्र अपने को अगेही, निर्वासित अनुभव करने में, इसके अर्थों की निरर्थकता प्रकट होने में। अवश्य मनुष्य प्राकृतिक जगत् के ऊपर आत्मकल्पित अर्थ-लोकों की सृष्टि भी करता है जो लोक निश्चय ही अधिक अर्थमय होते हैं। इन्हें एकाएक निरर्थक भी नहीं कहा जा सकता। किन्तु मानव-रचित अर्थों के ये जगत् भी अन्ततः एक रिक्तता, एक खिन्नता, एक निरर्थकता का भाव ही शेष छोड़ते हैं—"माधव, हम परिणाम निरासा", "शून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय", "दुखिया दास कबीर, जागै औ रोवै।" किन्तु परम और परिपूर्ण अर्थ को निश्चेष्ट, शाश्वत, अखंड सत् रूप में पाने की बात भी आश्वस्तिकर नहीं लगती। यह पदावली देश-कालात्मक वस्तुभाव की है, अर्थमयता की नहीं। कबीर ने इस अर्थमय पूर्णता को 'राम-सनेह' नाम दिया है—"राम सनेही नहीं मरै।" यह बात कुछ समझ में आती है। यह पद जगद्गत सब निरर्थक अन्वेषणों से उत्तीर्ण, परामर्शात्मक अर्थों से उद्भासित, निस्सीम करुणा और औदार्य से सम्पन्न भाव-स्थिति का वाचक कहा जा सकता है। कबीर जैसों द्वारा निदर्शित यह भाव-स्थिति कुछ आश्वस्ति देती है।

सन्दर्भ

1. **तैत्तिरीय उपनिषद्** (वल्ली 2, अनु. 6)
2. "उस समय न सत् था न असत् था, न लोक था और न आकाश से परे जो है वह था। उस समय न मृत्यु थी न अमृत था। उस समय अकेला वह अपनी प्रतिष्ठा से साँस ले रहा था।" **ऋग्वेद**-10.129.1-2 (हिन्दी अनुवाद — दामोदर पाद सातवलेकर)
3. द्रष्टव्य यशदेव शल्य—**चिद्विमर्श** में 'मनुष्य और जगत्' लेख।
4. जयशंकर प्रसाद, **कामायनी**।
4. द्रष्टव्य, यशदेव शल्य—**समाज : दार्शनिक परिशीलन,** अ. 1, रावत प्रकाशन, जयपुर, 1995.
5. द्रष्टव्य, राल्स की **थ्योरी ऑफ जस्टिस** पुस्तक और उस पर **समाज : दार्शनिक परिशीलन** पुस्तक के 'न्याय' शीर्षक अध्याय में हमारी टिप्पणी।
6. द्रष्टव्य—**समाज : दार्शनिक परिशीलन** में 'राज्य' अध्याय।
7. यहाँ कहा जा सकता है कि भौतिक तत्त्व में भौतिक संवेद होता है और वनस्पतियों में जगदीश चन्द्र वोस ने जैव प्रकारक संवेद होना प्रदर्शित किया था। ये दोनों बातें सही हैं। किन्तु यहाँ हमारे अभिप्रेत अर्थ में प्रथम में इसका अभाव और दूसरे में प्रायः अभाव कहने में कोई दोष नहीं है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कला चिन्तन का इतिहास और कला : एक विमर्श

मुकुन्द लाठ

भारत में कला-चिन्तन के इतिहास पर पिछले कुछ समय से काम कर रहा हूँ। कुछ लिखा भी है, ढेर सारे नोट्स बनाये हैं। सोचता भी रहा हूँ। विचार का एक ढाँचा बनाया है—या 'योजना' या 'तन्त्र' कहिये—जिसके घेरे में विषय की सामग्री को संजो कर व्यवस्थित रूप दिया जा सके।

पहले मैंने सोचा था कि सामग्री-संचय और उसकी प्रस्तुति के लिए मैंने जो विचार या प्रत्यय व्यवस्था का वलय सा बनाया है, उसी पर यहाँ चर्चा करूँगा। पर मन में प्रश्न उठने लगे और विचार कुछ और और दिशाओं में झाँकने लगा। एक प्रश्न विशेष उठा। यहाँ उस प्रश्न की और विचार ने जो नये कदम से उठाये हैं, उसी की बात छेड़ूँगा, ताकि आगे विमर्श और आलोचना में बात को कुछ और आत्मप्रकाश मिले।

'कला-चिन्तन का इतिहास' जैसा विषय हो तो एक प्रश्न पहले ही उठता है : यहाँ —विषय की उपस्थापना में ही—एक ऊह निहित है कि भिन्न कलायें मिलकर एक अभिन्न क्षेत्र बनाती हैं। पर ऐसा क्या सचमुच है? अपने और औरों के अनुभव में थोड़ा भी उतर कर देखें तो जिन्हें हम कला के नाम से पुकारते हैं, उनमें अनुगत धर्म के स्थान पर आपसी भेद ही अधिक मुखर होता दिखता है। कला का ग्रहण संवेदना करती है और कहना न होगा कि अच्छे-अच्छे सहृदयों के लिए भी, ऐसों के लिए भी जिन्हें मर्मज्ञ कहा जा सके, कोई एक कला-विशेष या दो तीन कलायें ही हृदयानुकूल होती हैं। ऐसी संवेदना कम ही दिखती है जो कला मात्र में एक सा प्रवेश रखती हो। कलाकारों को लीजिये तो उनकी संवेदना में तो और ही घनीभूत एकांगीपन देखने में आता है। अपनी कला में कई कलाकारों की संवेदना और प्रतिभा असाधारण होती है, पर दूसरी कलाओं में उनकी रुचि तक नहीं होती, हो तो अकसर बड़ी भदेस ही होती है, जैसे संवेदना उधर बिलकुल अंधी हो। सहज ही प्रश्न उठता है कि कलामात्र में किसी एक ही संवेदना की बात भी की जा सकती है क्या? और नहीं तो कला-मात्र को 'कला' इस एक ही नाम से पुकारने का आधार क्या?

फिर कलाओं का भेद वैसा नहीं है जैसा कि विचार में क्षेत्र-भेद होता है। विचार के उतने ही भेद हैं, जितने मनुष्य के ज्ञान और बोध के भेद हैं। बड़ा से बड़ा विचारक भी सब विद्याओं और उनके शास्त्रों में दखल नहीं रख सकता। पर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विचारक के लिए उनमें प्रवेश का द्वार भी है जो सब पर खुलता है। किसी भी विद्या का शास्त्र हो, या उसकी विचार-व्यवस्था हो, सबमें विचार का स्वभाव एक सा होता है। इसीलिए दर्शन को सब विद्याओं का लोचन कहा जा सकता है। 'कहा जा सकता है' इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि आजकल कई लोग नहीं कहना चाहते। पर आजकल जो कहा जा रहा है, वह त्रिकाल-व्यापी सत्य नहीं है— सर्वदेशव्यापी भी नहीं है; नैयायिक आज भी न्याय को शास्त्र मात्र से जोड़ते ही हैं और दर्शन के जो सम्प्रदाय ऐसा नहीं करना चाहते वे जानबूझ कर विचार की सहज व्यापकता से किनारा करना चाहते हैं। विचार का क्षेत्र अनुभव-मात्र-व्यापी है, यह कहने के लिए युक्ति की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। किसी भी वृत्ति से—जैसे संवेदना से—मनुष्य जो ग्रहण करता है, उस पर विचार कर ही सकता है और विचार होगा तो विचारमात्र में एक अनुगत धर्म भी होगा, नहीं तो पकड़ में ही नहीं आयेगा।

पर विचार की व्याप्ति में जहाँ एक अभेद जैसा कुछ समाया है, वहीं उसकी दृष्टि भेद देखती चलती है। जब हम सब कलाओं को एक ही पेटे में रखने की बात करते हैं, तो ऊपर संवेदना में जिस क्षेत्र-भेद की बात मैंने की, वह उभर कर आड़े आ जाता है। पर विचार का एकत्व बना रहता है। विचार भाषा में होता है। विषय कुछ भी हो, विचार का माध्यम भाषा ही रहती है। वैज्ञानिक कह सकता है कि, नहीं, मैं तो जब अपने विषय पर सोचता हूँ और प्रकृति की कोई समझ बनाता हूँ, तो विचार गणित में करता हूँ। प्रश्न उठ सकता है कि गणित भाषा के घेरे में आता है कि उसके बाहर है? बाहर ही लगता है। गणित में विचार नहीं हो सकता, वैज्ञानिक भी अपनी बात केवल गणित के माध्यम से नहीं कह सकता, भाषा का उसे प्रयोग करना ही पड़ता है, उसीं भाषा का जिसमें अन्य विचार होते हैं। गणित पर भी विचार होता है और यह विचार गणित में नहीं होता, साधारण भाषा में ही होता है और भाषा के बिना गणित की पूरी सत्ता बनती भी नहीं दिखती। कहने का तात्पर्य यह है कि विषय कितने ही भिन्न हों, विचार का **माध्यम** एक ही रहता है : शब्द। विचारमात्र में अगर अनुगत-धर्म है तो उसका एक बड़ा कारण शायद यही है।

पर कलाओं को देखिये। भिन्न कलाओं के माध्यम नितान्त भिन्न होते हैं। भिन्न इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं और कला में इन्द्रिय की पकड़ का महत्त्व भी मूलगत होता है, भाषा की पकड़ में ऐसा नहीं होता। क्या अचंभा जो संवेदना बिचारी भिन्न कलाओं में एक सी डुबकी नहीं लगा सकती—और संवेदना का क्षेत्र ही ऐसा है कि 'जे डूबे ते तिरे'।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जहाँ ग्राह्य विषय में ऐसा नितान्त माध्यम-गत भेद हो और ग्राहक संवेदना में सहृदयता-गत भेद; और यों भेद की दोहरी दीवार खड़ी हो, वहाँ एक ही क्षेत्र की बात करने में संगति क्या?

उत्तर के कई पहलू हो सकते हैं। अपने अनुभव की—अपनी संवेदना की—दुहाई दे सकता हूँ। यह भी कह सकता हूँ कि अनुभव के एक में तो अनेक होता ही है : अनुभव को ही यहाँ, कला में, भेद के रहते भी एक क्षेत्र की एकात्मता का बोध होता है। भिन्न कलायें मिल कर मानो एक ही अवयवी सा बनाती हैं—चेतना में गहरे किसी एक ही वृत्ति को सम्बोधित करती हैं। उस एक क्षेत्र के भीतर ही अनुभव क्षेत्र भेद करता जान पड़ता है। यहाँ चेतना की पकड़ एक बड़ा क्षेत्र-वलय बनाती हुई उसमें क्षेत्र भेद करती दिखती है। यह चेतना या आत्मचेतना की सहज गति है, जो विषयमात्र के साथ कई स्तरों पर ऐसा करती है, कई तरह से करती है—विशेष से सामान्य की दिशा और सामान्य से विशेष की दिशा अनायास लेती चलती है। सामान्य-बोध और विशेष-बोध में निहित भेद और अभेद का परस्पर-भाव जो चेतना की पकड़ में निहित सा जान पड़ता है वही भिन्न कलाओं में अभेद देखता है। सामान्य दृष्टि के व्यापक भेदों में भाव, कर्म और ज्ञान जैसा क्षेत्र भेद उभरता दिखता ही है। कला को—सभी कलाओं को—हम सहज ही भाव से जोड़ते हैं। यों उनमें ऐक्य देखते हैं। आप कह सकते हैं, इसे कला-अभेद के पक्ष में युक्ति कहना ठीक नहीं। इसका आधार केवल अपोह है, कर्म और ज्ञान से व्यावृत्ति है, किसी संग्राहक अनुवृत्ति का प्रदर्शन नहीं। कलाओं का ऐक्य सचमुच आगे खड़ा हो सके इसके लिए कोई और युक्ति चाहिये; किसी विधि-परक अनुगत धर्म का ऐसा प्रदर्शन चाहिये जो उन्हें सचमुच एक में समेटता दिखे। जो अपोह मात्र न हो बल्कि सचमुच सब कलाओं को एक ऊह में पिरो सके, कोरे विचार के नहीं, अनुभव के एक सूत्र में उन्हें पिरो सके। केवल यह कह देना कि सब कलाओं का भाव जगत् से सम्बन्ध है, काफी नहीं लगता। यह तो एक निरी परिशेष की सी बात लगती है : ज्ञान और कर्म से सम्बन्ध नहीं है तो भाव से ही होगा, ऐसी एक शिथिल सी बात लगती है : विचार के अभिनिवेश को टाल देने की बात। प्रश्न वहीं का वहीं रह जाता है : जहाँ भेद इतने गहरे हैं वहाँ किसी एक भाव-जगत जैसे एक ही जगत की बात करना एक प्रथा या परिपाटी से अधिक क्या हो सकता है? यह भाव-लोक कोई 'एक' लोक नहीं भानमती के एक ही पिटारे में पड़ी ढेरी जैसा भी लग सकता है। अनुभव अगर वहाँ सचमुच कोई ऐक्य देखता है तो विचार से मांग भी करता है कि उसे उभारने की कोई सार्थक दिशा ले।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऐसी भी दिशा मैं समझता हूँ ली जा सकती है। कलाओं में भेद—माध्यम का भेद—यहाँ तक कि ग्रहण करती इन्द्रियों का भेद, इसके होते हुए भी इनमें एक और बात भी देखी जा सकती है, जहाँ उनका भेद नहीं, अभेद—या अभेद पर आधारित संवाद—कहना चाहिये, वह प्रत्यक्ष उभरता है। कलाओं में भेद की बात, जैसी मैंने ऊपर उभारी है, सच पूछिये तो वह विचार में और कला-साधना के विशेष प्रयासों में ही अधिक प्रकट होती है। वरना प्रयोग में कलायें साथ ही दिखती ही हैं। गाने में स्वरों के साथ बोलों या शब्दों का संयोग जितना सहज है, वियोग उतना सहज नहीं। मूर्तियों पर चित्रकारी या कम से कम वर्णकारी—और वास्तु के साथ चित्रकारी, ये भी अनायास उपलब्ध होते हैं। फिर नाटक को लीजिये, या फिल्म को। इनमें भिन्न कलायें एक योजना-विशेष और इस योजना के एक नाट्यधर्मी प्रयोजन विशेष के साथ जोड़ी जाती ही हैं। भरत ने इसको बड़े विस्तार से और विचार की पैठ के साथ उभारा है। नाट्य में भिन्न कलाओं की इस एकात्म योजना को 'वृत्ति' का नाम दिया है। 'वृत्ति' की धारणा को हम नाट्य से बाहर निकाल कर व्यापक अर्थ भी दे सकते हैं और अपने आप में स्वतन्त्र लगती कलाओं के किसी भी संयोजन को वृत्ति का नाम दे सकते हैं : जैसे स्वर के साथ शब्द का मेल। वृत्ति की उपलब्धि हमारे कला-व्यवहार में हर कहीं देखने को मिलेगी—और संख्या में भी इसके रसिक ही अधिक मिलेंगे। हममें से जो लोग किसी कला विशेष के स्वतन्त्र रूपों को 'समझ' के बाहर ठहराते हैं, ऐसे लोग भी गीत, फिल्म, नाट्य, नृत्य जैसी भिन्न कलाओं के संगम से बनी प्रचलित वृत्तियों में रुचि लेते दिखते हैं, वहाँ 'नहीं समझने' की बात नहीं करते। कला भेद उनके अनुभव के अभेद में सहज विलीन हो जाता है।

अब 'वृत्ति' में एक बात है, जिससे हम यहाँ, इस प्रसंग में, अपनी समझ का एक संकेत ले सकते हैं। वृत्ति 'कला संगम' होती है, भिन्न कलाओं का संगम। जहाँ उन भिन्न कलाओं में एकात्मता उभरती है। नाट्य में इस एकात्मकता के स्वरूप को भरत ने रस की अभिधा दी है। 'रस' में व्यापकता के सूत्र भी हैं तभी इस संज्ञा का बाद में बड़ा अर्थ-विस्तार हुआ; नाटक तक परिमित नहीं रहा। 'रस' कला-मात्र पर व्यापक हो गया।

प्रश्न होगा : जब ऐसा कला-व्यापक एकात्म प्रत्यय सविमर्श उपलब्ध है, तो फिर मेरी तलाश क्या? इस पर आगे विचार करूँगा। मैंने जो कला-चिन्तन के इतिहास पर विचार के लिए एक प्रत्ययों की रूपरेखा बनाई थी, उसमें रस को ही सर्व-व्यापक स्थान दिया था, पर जैसा आरम्भ में ही मैंने कहा, इस पर प्रश्न जागा। 'रस' से मुझे क्या असंतोष है, इसकी भी चर्चा करूँगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहाँ 'वृत्ति' की ही बात बढ़ाता हूँ और वृत्ति के सन्दर्भ में 'रस' की बात। भरत के लिए वृत्ति उस विशेष कला-संगम का नाम था, जिससे नाट्य बनता है और नाट्य से जो प्रभाव निष्पन्न होता है, भरत के लिए उस प्रभाव-विशेष का नाम है 'रस'। उस प्रभाव ('आस्वाद', 'रस') की प्रस्तुति के लिए जो निर्मिति की जाती थी या विभिन्न कलाओं की सं-रचना का जो प्रयास या कृतित्व किया जाता था, वह भी रस को ही कसौटी बनाता था—जैसे व्यंजन का बनाना और उसका खाना, दोनों ही का निकष 'स्वाद' होता है (उपमान भरत का ही है)। पर जैसा कह आया हूँ वृत्तियाँ दूसरी भी हो सकती हैं—होती ही हैं—और उनके निकष भी दूसरे हो सकते हैं।

दूसरी वृत्तियां क्या है, उनको क्या नाम दिया जाये और किस आधार पर दिया जाये, इसकी विशेष चर्चा नहीं होती। इस चर्चा की यहाँ आवश्यकता भी नहीं। पर वृत्ति बने तो उसकी एक मांग होती है—भिन्न कलायें वहाँ अपना भेद ख़ो कर किसी एक अलग अवयवी को जन्म दें। यह अपेक्षा किसी भी वृत्ति के लिए स्वाभाविक है। तभी नाट्य की भिन्न कलाओं से बनी सामग्री के लिए कहा गया है (अभिनव ने कहा है) कि उसे रस में 'निमज्जित निजस्वरम्' होना चाहिये।

एक प्रसंग बाहर प्रश्न यहाँ उठ सकता है, जिसे छेड़ूँगा, उठाऊंगा नहीं। नाट्य में कला ही नहीं विचार-विमर्श भी हो सकता है, कर्म तो होता ही है—तो फिर हमारी कला क्षेत्र की खोज में क्या फिर एक और अटपटा आलाप नहीं जुड़ जाता? पर एक बात देखी जा सकती है : विचार या कर्म का निजस्वर नाट्य की वृत्ति में निमज्जित नहीं हो तो वृत्ति बिखरती ही दिखेगी।

जो भी हो, हमारी तलाश में वृत्ति की यह बात एक दृष्टान्त या उपमान जैसी ही हो सकती है—जिसमें विचार का एक अभिप्राय व्यंजित हो—उस बात की सिद्धि या उपपत्ति जैसा कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि प्रश्न उठये जा सकते हैं। मेरे ही मन में उठ रहे हैं : निमज्जन को यहाँ किस अर्थ में लिया जाये? अगर कला के स्वातन्त्र्य का बोध हो, तो वृत्ति में पूरा निमज्जन तो किसी कला का भी नहीं होता—विचार और कर्म की बात तो जाने दीजिये। अभिनव ने जहाँ नाट्य में अन्य कलाओं के निमज्जन की बात की है, वहाँ यह भी कहा है कि इसके लिये कला को नाट्यानुकूल बनाना पड़ता है। कोई कला जहाँ स्वप्रतिष्ठ होती है, अपनी स्वतन्त्र निर्मिति करती चलती है, वहाँ वृत्ति जैसे किसी संगम की बात ही नहीं उठती। नृत्त और संगीत के दो स्वतन्त्र स्वप्रतिष्ठ रूप ताण्डव और गान्धर्व के साथ की चर्चा करते हुए अभिनव कहते हैं कि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इनका साथ जहाँ होता भी है (जैसा प्राचीन नाट्य के पूर्वरंग में) वहाँ वह ऐसा ही होता है जैसे दो स्वतन्त्र राजाओं का एक ही शत्रु से लड़ने के लिए साथ हो लेना। वहाँ वृत्ति जैसा कुछ नहीं होता।

यों हम पाते हैं कि कला और अकला के क्षेत्र-भेद का कोई वलय नहीं उभरता। क्योंकि वृत्ति भी एक नहीं अनेक होती हैं और सब वृत्तियों पर व्यापक किसी महावृत्ति की बात में कोई सार्थकता नहीं दिखती। 'वृत्ति' की धारणा एकत्व की एक ध्वनि ही उभार सकती है, उसका आधार-प्रत्यय नहीं बन सकती और ध्वनि भी यहाँ एक क्षेत्र को मान कर, ऊह्य रख कर ही रूप लेती है क्योंकि 'वृत्ति' तो कलाओं के भेद के आधार पर ही अपना अनेकत्व बनाती लगती है।

तो भिन्न कलाओं के अपने एक अभिन्न क्षेत्र का बोध एक सहज प्रतिभात, तर्क, ऊह से परे जागता अनायास, अविचारित बोध ही हो सकता है। विचार उसे मान कर ही चल सकता है, पहचान कर नहीं।

पर पहचानना चाहता भी है। कुछ लोग कहेंगे ऐसे पहचान की ज़रूरत ही क्या? जब बात विमर्श के घेर में स्फुट हो नहीं सकती, तो फिर इस प्रयास की ही कुछ साधना क्यों की जाये? कलाओं में अभेद का एक विचार-बाहर इंगित ऊह्य रखते हुए हम विचार के भीतर भेद को ही स्फुट करने का प्रयत्न करें तो आप्त्ति क्या है? सार्थक प्रयत्न तो यही दिखता है।

पर विचार-बाहर क्या है, यह भी एक गुत्थी ही है और विचार की ही गुत्थी है। यह ठीक है कि विचार के लिए भेद उभारना ही सहज, प्रकृति-सिद्ध सा प्रतीत होता है। पर अभेद की ओर भी उसकी तत्त्वदृष्टि झुकती ही है। अभेद की धरती न हो तो भेद की बात भी अतर्क्य ही नहीं, अनर्गल होगी—अविच्छिन्न, निरर्थक। 'सम्बन्ध' की, 'संगति' की, धारणा रूप ही नहीं लेगी। विचार जिस मेरू पर है, भेद और अभेद उस एक मेरु के दो छोर लगते हैं। विचार-विशेष के लिए जैसा कलाचिन्तन के लिए प्रश्न यह उभरता है कि अपने विषय से सार्थक, अन्तरंग संगति रखते हुए भेद-अभेद का संतुलन कैसे करे? और यह केवल तर्क या उपपत्ति की बात नहीं होती—हो ही नहीं सकती।

2

पर यहाँ विचार पर विचार नहीं बढ़ाऊंगा, चाहे विचार के लिए यह स्वभाव-सिद्ध सी गति हो। जो विषय उठाया है उसके एक-दूसरे पक्ष को लेते हुए बात को आगे निकालने की चेष्टा करता हूँ। मैंने चर्चा का आरम्भ जिस धारणा को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय बना कर किया था वह था 'भारत में कला चिन्तन का इतिहास।' यहाँ ऊह्य यही नहीं है कि भिन्न कलायें मिल कर एक अभिन्न क्षेत्र बनाती हैं—यहाँ एक और भी बोध ऊह्य है जिसे ऐसा विषय उठाने की पीछे काम करती प्रेरणा कह लीजिये— या आज के सन्दर्भ में बुद्धि का एक संस्कार। विचार की जिस परम्परा में हम आज हैं, इसे इस विचार-परम्परा की रूढि भी कह सकते हैं, जहाँ ऐसा विषय एक 'उचित', मनन-योग्य विषय के रूप में उभरता है। इसलिये मैंने इसे उठाया। पर यह भी है कि सोचते हम किसी परम्परा में ही हों पर सोचना परम्परा में ही नहीं, परम्परा पर भी हो सकता है। विचार की यह दूसरी मुद्रा विचार के लिए सरल है. इसे अपनायें तो परम्परा पर विचार के जागते ही प्रश्न होगा : चिन्तन का—चाहे कला-चिन्तन हो, या किसी और विषय पर चिन्तन हो—उसका इतिहास से क्या सम्बन्ध? चिन्तन के इतिहास की बात उठाई ही क्यों जा रही है? चिन्तन से इतिहास की संगति क्या? कला-चिन्तन का इतिहास क्या कला-चिन्तन का किसी रूप में अंग है? या फिर विषय यहाँ इतिहास है, कला-चिन्तन यहाँ इतिहास का अंग है। इस बात में यहाँ एक उद्देश्य या अभिप्राय उभर सकता है। यह कि भारत में कला-चिन्तन का इतिहास समग्र रूप से सब कलाओं में उपलब्ध चिन्तन—का कोई काल-क्रम में सजा कर रखा गया ब्यौरा उपलब्ध नहीं है और हमारा प्रयत्न इसी कमी को पूरा करने का प्रयत्न है। यह ठीक भी है कि अलंकार-शास्त्र के इतिहास को छोड़ कर दूसरी कलाओं के चिन्तन का इतिहास नहीं के बराबर आंका गया है और कला-चिन्तन का ऐसा इतिहास जो सभी कलाओं के चिन्तन को साथ रखते हुए काल-क्रम की दृष्टि से देखें, ऐसा प्रयास तो और भी कम हुआ है।

पर एक चुभती हुई बात पर यहाँ भी ध्यान जा सकता है। बात 'भारत में' कला चिन्तन के इतिहास की की जा रही है। भारत में चिन्तन का इतिहास से कोई महत्त्व का सम्बन्ध कभी नहीं आंका गया। कला-चिन्तन में तो बिलकुल भी नहीं।

आज आँका जाता है। क्योंकि पश्चिम मनुष्य की हर साधना में उस साधना के इतिहास-बोध को अन्तरंग मानने लगा है। 'मनुष्य के स्वरूप में उसका इतिहास शामिल है' यह 'आधुनिक' प्रतिज्ञा है, जिससे 'भारत में कला-चिन्तन का इतिहास' जैसे विषय 'उपपन्न' होते हैं। या 'उपपन्न' शब्द ठीक संगत न लगे तो 'निःसृत' होते हैं कह सकते हैं—इतिहास के महत्त्व-बोध से निष्पन्न होते हैं। 'उपपन्न होते हैं' कहने में भी मुझे दोष नहीं दिखता, क्योंकि प्रतिज्ञा अगर यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हो कि 'मनुष्य का अपने इतहास से स्वरूपत: ही अविनाभाव है' तो उपपत्तित: भी इतिहास, कला-चिन्तन का अन्तरंग हो जाता है।

यहाँ बात को कुछ आगे बढ़ाता हूँ। चलिए हम मान भी लें कि कला-चिन्तन का (और यों चिन्तन मात्र का) चिन्तन के इतिहास-बोध से कोई 'भीतर का' सम्बन्धं है—तो भी दोनों का अविनाभाव तो कहीं बनता नहीं दीखता, जैसा कि आधुनिक बोध में समोया हुआ दिखता है। यह ठीक है कि हम काल में कहीं होते हुए, किसी शिक्षा, किसी संस्कार से प्रेरित होकर चिन्तन करते हैं : अर्थात् किसी परम्परा में चिन्तन करते हैं—उससे अनुप्राणित होते ही हैं। पर चिन्तन उससे बँध नहीं रहता है। चिन्तन में इतिहास या परम्परा बोलती भी हो तो भूलना नहीं चाहिये कि विचार में एक निहित स्वातन्त्र्य होता है, जो उसके आत्मबोध में सदा जागता रहता है। विचार इतिहास या परम्परा पर प्रश्न उठाता है, और इन्हीं पर ही नहीं, अपने ऊपर भी प्रश्न उठाता चलता है, जिस दिशा में चल रहा हो उससे दूसरी दिशा ले सकता है।

इन्हीं दिशाओं को चिन्तन का इतिहास परखता-आंकता है। यों कह सकते हैं कि चिन्तन के बहुमुखी वैभव का परिचय देता है इतिहास। पर इतिहास का एक और पक्ष भी है—जो विस्तार की जगह संकीर्णता की ओर मुड़ता है। इतिहास जो कुछ भी देखता है, उसे एक संदर्भ में कस कर देखता है। संदर्भों की एक शृंखला बनाता है जहाँ अगली कड़ी पिछली से निकलती चलती है। पिछली कड़ी से अगली कड़ी के निकलने को कैसे, किस अर्थ में, समझा जाये, यह आज की इतिहास-विद्या के लिए एक प्रश्न है। कोई ऐसा कार्य-कारण-भाव तो हाथ नहीं आता— न उसके हाथ आने की कोई सम्भावना दिखती है—जिससे कि अगली कड़ी को पिछली कड़ी का किसी भी अर्थ में नियत, निर्धारित कार्य कहा जा सके। ऐसा होता तो इतिहासकार भविष्यवाणी कर पाता पर भविष्यवाणी से इन्कार करते हुए भी इतिहास-विद्या के गर्भ में ही एक मनोभाव है, एक प्रवृत्ति है—जिसे 'वैज्ञानिक' कहा जा सकता है। यह प्रवृत्ति स्वभाव से ही कार्य-कारण-भाव की ओर झुकती है और कार्य-कारण-भाव को एक बँधी-कसी शृंखला की तरह मानने की ओर झुकती है। भौतिक विज्ञान की पाटी पढ़ते हुए यह प्रवृत्ति इन्द्रियग्राह्य को ही ज्ञान की आधार सामग्री मानती है : उसकी दृष्टि में इन्द्रिय ही 'वस्तु' का ग्रहण करती है।

विज्ञान की यह 'ठोस'-ग्राही प्रवृत्ति इन्द्रिय-अनुभव के परिचित जगत् से चली थी, पर आज एक विचित्र लोक में जा टिकी है जो साधारण कल्पना के बिलकुल बाहर है। सिद्धान्त या अभ्युपगम (थ्योरी) के रूप में 'कल्पना' —

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

चेतना का स्वतन्त्र निरिन्द्रिय ऊह (सत्य की ओर बढ़ती युक्ति) — विज्ञान का सदा अभिन्न अंग रही है। थ्योरी के बिना विज्ञान की कल्पना ही नहीं की जा सकती और आज यह थ्योरी इन्द्रिय-बोध के 'ठोस', 'परिचित' जगत को ही सामग्री बना कर ऐसे ब्रह्माण्ड का प्रपंच बुन रही है जहाँ कल्पना बौखला जाती है। अनुभव के जिस व्यवहार लोक से विज्ञान चला था, उस जगत से विज्ञान के 'वस्तु'-जगत का कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता दिखता—कोई ठोस, पकड़ में आ सकता कार्य-कारण-सम्बन्ध तो बिल्कुल ही नहीं। अपने इस 'सत्य' का आधार व्यवहार को ही रखता है विज्ञान, दुहाई उसी की देता है। पर उसे अपने मूल तत्वों से उपपन्न नहीं कर सकता। अब लगने लगा है कि विज्ञान अगर यन्त्र-कौशल का द्वार न हो तो केवल 'सत्य' को जानने के लिए उसके प्रति कितनी श्रद्धा रहेगी, कहना कठिन है। विज्ञान से उभरता यन्त्र कौशल ही विज्ञान को अरबों रुपये मुहैया करवा रहा है, उसका 'सत्य' तो उलटबाँसी जैसी गुत्थियों में उलझता जा रहा है। किसी भी तत्त्व-दर्शन में जैसी गुत्थियाँ हैं, उससे भी अधिक चकरा देने वाली गुत्थियाँ हैं विज्ञान की, क्योंकि पहेली विचार की नहीं, व्यवहार की 'ठोस', 'निर्भ्रान्त' कहलाती 'वस्तु-सत्ता' की है। थ्योरी के रूप में स्वतन्त्र विचार-कल्पना का—ऊह का—सहारा लेते हुए भी विज्ञान चेतना के स्वातन्त्र्य का बैरी है। वैज्ञानिक अपने स्वतन्त्र सचेतन अध्यवसाय से ही 'क्या है' इसका निर्णय करता है, पर चेतना को वह अपने जगत् में 'अवस्तु' मानने को बाध्य है : उसके तत्त्व दर्शन में, प्रमाण-व्यापार की — सत्य-असत्य निर्णय की — कसौटी ही कार्य-कारण-भाव है। प्रश्न रह ही जाता है कि वैज्ञानिक भी कार्य-कारण-बद्ध हो तो कार्य-कारण को परखेगा कैसे? उसका प्रयोगशाला में या यन्त्र बनाने में उपयोग कैसे करेगा? ऐसे प्रश्न विज्ञान नहीं उठाता। चेतना को स्वतन्त्र माने तो विज्ञान ही नहीं रहेगा।

इतिहास विद्या की प्रेरणा भी 'वैज्ञानिक' है, और जहाँ तक इतिहास-विद्या 'वैज्ञानिक' है। स्वातन्त्र्य से उसको भी बैर है। स्वातन्त्र्य इतिहास-विद्या के विचार-तन्त्र में ठीक बैठता नहीं है हालांकि विषय मनुष्य है, भौतिक जगत नहीं। मनुष्य तो सहज ही कार्य-कारण से अनबँधी पहेली की तरह उभरता है, पर इतिहास उसे भौतिक-जगत-तुल्य कार्य-कारण से विज्ञान की तरह बाँध रखना चाहता है। स्वातन्त्र्य इतिहास में स्थान लेता भी है तो बेगाना सा रहता है। कई इतिहासकार (जैसे मार्क्स) इतिहास में स्वातन्त्र्य की बात करते भी हैं तो उसको भी एक 'संदर्भ' जैसा कुछ बना देते हैं—उनके लिए संदर्भ-शृंखला की अन्तिम कड़ी है स्वातन्त्र्य, जहाँ पहुँच कर इतिहास का भी अन्त हो जायेगा। कुछ ऐसे

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी हैं जो स्वातन्त्र्य को इतिहास के प्रवाह में भी देखते हैं। पर देखते उसे सन्दर्भ के रूप में ही हैं—मनुष्य के सहज सदा जाग्रत, अंतरंग धर्म के रूप में नहीं। इतिहास के लिए 'सन्दर्भ' अन्तरंग नहीं, बहिरंग होता है : सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक प्रथायें, संस्थायें, परिस्थितियाँ ये संदर्भ होती हैं। जो इतिहासकार स्वातन्त्र्य को इतिहास में प्रवहमान देखते भी हैं, उनकी दृष्टि भी स्वातन्त्र्य के लक्षण ऐसे संदर्भों से ही परिभाषित करती है। जैसे आज प्रजातन्त्र को 'इतहास में स्वातन्त्र्य के विकास' के रूप में देखा जा रहा है; विगत सन्दर्भों में इसके 'बीज' भाँपे जा रहे हैं।

विचार का इतिहास आंकने में भी संदर्भ समाज या 'व्यवहार' ही होता है। पर विचार का इतिहासकार ऐसे संदर्भ से बँधा नहीं रह सकता। इस संदर्भ को और उसके काल-सम्बन्ध को वह छोड़ता नहीं है, क्योंकि छोड़ दे तो इतिहासकार ही नहीं रहेगा। काल की सीधी, क्रम-धर्मी रेखा में पिरोई हुई कड़ियाँ तो इतिहास का ढाँचा ही हैं—या 'साँचा' कहिये। उससे अलग हट कर फिर आज जिसे हम 'इतिहास' कहते हैं, उसकी बात नहीं हो सकती। पर चिन्तन या विचार का इतिहासकार इस संदर्भ की भूमि पर एक दूसरी भूमि — विचार का 'अपना' एक सन्दर्भ — भी रचता है। यह सन्दर्भ विचार के अपने ऊहापोह से, मनन या प्रज्ञा की प्रेरणा से जागे चिन्तन के मोड़ों का होता है। यहाँ मैं जानबूझ कर चिन्तन के मोड़ कह रहा हूँ, 'शृंखला' नहीं। 'शृंखला' में जो कार्य-कारण-भाव की ध्वनि है, जो कि समाजों की कालयात्रा में स्फुट-अस्फुट कुछ दिखती भी हो, वह यहाँ बिलकुल धुंधली पड़ जाती है। दृष्टि, दृष्टि-भेद, युक्तियों की अपनी स्वतन्त्र यात्रा प्रधान हो जाती है। समाज उतना नहीं उभरता जितना व्यक्ति-विचारक उभरता दिखता है। या विचार के अपने सम्प्रदाय, अपनी स्वतन्त्र धारायें, जो व्यक्तियों को केन्द्र करती हैं।

हम यहाँ कह सकते हैं कि ऐसी बात विचार के विशुद्ध क्षेत्र पर—दर्शन—पर ही पूरी उतरती है, जहाँ चिरन्तन, मूलभूत से प्रश्न विचार का आधार होते हैं : क्या है? क्या हूँ? जानूं कैसे? जानने का आधार क्या? उसका सत्य क्या? औचित्य क्या? ... यहाँ लगता है कि विचार की भूमि किसी बृहत् समग्र का वहन करना चाहती है—एक सर्वव्यापक समग्र का जो काल के परे है। पर विचार के दूसरे अधिक घिरे हुए क्षेत्र भी हैं, जहाँ संदर्भ — इतिहास-निष्ठ समाज-संस्कृति (व्यवहार) औरं उसके काल-क्रम का सन्दर्भ—विषय-बोध के मर्म के भीतर समाया रहता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रश्न होगा, कौन से ऐसे विषय हैं? सहज अटकल कहेगी कि विज्ञान को तो ऐसा विषय होना ही चाहिये। विज्ञान एक विशेष काल में, एक विशेष समाज में ही उभरा—कुछ लोग ज़ोर देकर कहेंगे, वहीं उभर सकता था क्योंकि कार्य-कारण की सम्भावना वहीं थी। जो भी हो, संदर्भ की गरिमा यहाँ प्रकट है। विश्व-इतिहास रचते हुए विज्ञान का ऐसा चित्र आँका भी जाता है, जहाँ 'आधुनिक' विज्ञान के उद्भव को एक विशेष समाज के देश-काल-निष्ठ विशेष संदर्भ या संदर्भ-शृंखला से किसी न किसी नियत भाव से जोड़ा जाता है। विश्व-इतिहास का ऐसा चित्र बड़ा लोक-मान्य भी है। पर है कल्पना ही : दूसरे भी उतने ही 'प्रामाणिक' चित्र गढ़े जा सकते हैं। इतिहास में 'यों नहीं यों हो सकता था', हर मोड़ पर दिखता है। बात आस्था के संस्कार की ही है, परीक्षित कार्य-कारण बोध की नहीं। फिर यह भी देखिये कि चाहे समाज-संस्कृति के किसी सन्दर्भ विशेष में ही विज्ञान का उद्भव और विकास सम्भव हुआ हो, फिर भी विज्ञान का किसी समाज-विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं : सम्बन्ध है तो इतना ही कि मनुष्य और मनुष्य की आत्मचेतना के बिना हम विज्ञान की कल्पना नहीं कर सकते, और मनुष्य समाज के बिना नहीं होता। पर विज्ञान की अपनी भीतर की गतियों को लीजिये—उसके अन्तरंग विकास की धारा को। वहाँ सामाजिक सन्दर्भ बेमानी हो जाता है। विज्ञान के शास्त्र-चिन्तन का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं—न विषय के रूप में, न प्रमाण के रूप में। विषय उसका भूत-जगत है, जिसके आधार-तत्त्व को वह सर्वथा परिवर्तन के (किसी भी प्रकार के इतिहास के) परे ही रख कर देखता है, प्रमाण उसके अनुमान (व्याप्ति) और गणित हैं, जिनका किसी सन्दर्भ से कोई अन्तरंग कार्य-कारण सन्दर्भ विज्ञान से भी अधिक संदेहदिग्ध है। यहाँ तक संदेहदिग्ध है कि ऐसा कोई सम्बन्ध सचमुच दिखने लगे तो तर्क और गणित ही संदेह के घेरे में आ जायेंगे।

स्पष्ट ही सन्दर्भ की जिन दो भूमियों की हमने बात की है, उनमें से पहली, समाज और काल सम्बन्ध से बनी भूमि, विज्ञान में गौण हो जाती है, कहने की बात मात्र रह जाती है (ऐसा न होता तो विज्ञान दूसरे समाजों में फैल ही नहीं सकता था)। विज्ञान में ज्ञान की अपनी भूमि प्रधान हो जाती है। समाज ही नहीं काल की गति भी उपाधि से अधिक कुछ नहीं रहती : जिसे हम 'काल' कहते हैं विज्ञान से उसका सबन्ध जैसे एक ऊमर का सा, संयोग का सा, होता है 'भीतर का' कुछ नहीं। क्योंकि विज्ञान का देश-बद्ध काल कुछ अलग ही है। विज्ञान के लिए समाज तो क्या मनुष्य के होने की भी आवश्यकता अतिचार जैसी लग सकती है। अचम्भा नहीं कि साइंस-फिक्शन (विज्ञान से प्रभावित किस्से-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहानियाँ) विज्ञान की उपलब्धि को पृथ्वी (और मनुष्य) तक सीमित नहीं रखते, ब्रह्माण्ड में अन्यत्र भी इसकी कल्पना करते हैं—मनुष्य से अधिक 'विकसित' विज्ञान की कल्पना करते हैं।

इस युक्ति को हम मान भी लें, तो भी हमें लग सकता है कि विज्ञान का चाहे समाज-सन्दर्भ से अलगाव का ही सम्बन्ध हो, पर कला को समाज से विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता। कला रुचि की बात है। रुचि का सम्बन्ध संस्कार से होता है और संस्कार का मूल समाज-संदर्भ ही में होता है। इस संदर्भ के बदलने के साथ रुचि का संस्कार भी बदलता है। बात बिल्कुल इतिहास की हो जाती है। पर सोचिये। कला बोध को रुचि तक सीमित रखना अनाचार ही हो सकता है। संवेदना रुचि नहीं है। फिर भी हम कह सकते हैं कि रुचि से ऊपर की सीढ़ियाँ चढ़ें तो गति व्यक्ति पर आ कर अटकती है। संवेदना का सम्बन्ध व्यक्ति से होता है। कलाकार भी व्यक्ति होता है और सहृदय भी : दोनों की कला-बोध की साधना भी व्यक्तिगत होती है। संवेदना की निर्वैयक्तिकता को—पुराने शब्दों में उसके 'साधारणी' भाव को—मानते हुए भी उसके व्यक्ति-सम्बन्ध को दूर नहीं किया जा सकता। हम कहें भी कि 'आख़िर विज्ञान का भी ऐसा व्यक्ति सम्बन्ध होता है—'वैज्ञानिक' के बिना विज्ञान क्या? तो भी संवेदना का व्यक्ति-भाव जिस निविड़ भाव से व्यक्ति-निष्ठ होता है, विज्ञान का वैसा नहीं होता। संवेदना व्यक्ति की जैसी अपनी सम्पत्ति होती है, ज्ञान नहीं होता। और व्यक्ति की कल्पना बिना समाज के नहीं हो सकती। हम संवेदना को रुचिमात्र से और अनात्मचेतन संस्कार मात्र से ही नहीं, व्यक्ति से भी ऊपर उठायें भी तो भी कला की परम्परा से नहीं हटा सकते। संवेदना और तत्प्रसूत कला, परम्पराओं में पलती है। परम्पराओं के साथ बदलती है, और यों बात को इतिहास के घेरे से नहीं निकाला जा सकता।

यों यहाँ सन्दर्भ की पहली भूमि—समाज-संस्कृति —गणित और विज्ञान के समाज-संदर्भ से कहीं अधिक तूल स्वत: पा लेती है। बल्कि, इसी कारण, समाज विशेष के स्वभाव (उसकी 'संस्कृति') को समझने के लिए कला को उसकी एक विशेष पहचान माना जा सकता है। माना गया भी है और इसी के चलते कला के इतिहास की आज इतनी महिमा भी है।

भूलना नहीं चाहिये कि आज हम जिसे इतिहास कहते हैं, उस विद्या का भी एक इतिहास है, एक परम्परा है। कला के इतिहास को इस परम्परा ने ही महिमा दी है, उसे संस्कृति का अभिन्न अंग, और इसी हेतु, संस्कृति की पहचान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कहा है। इतिहास की इस आज की परम्परा में कितना ही अनेकान्त या बहुवचन हो, कुछ सूत्र समानधर्मा से हैं।

इतिहास मनुष्य की काल-यात्रा का होता है, मनुष्य को ही समझने के लिए आंका जाता है। इतिहास में मनुष्य को समझने के दो पक्ष हैं : सामान्य और विशेष—मनुष्य-मात्र और समाज या समूह विशेष। इसी से विश्व-इतिहास और देश, काल, संस्था, संस्कृति, परम्परा, व्यूह, समूह ... विशेष के इतिहास का भेद उभरता है : इनकी अपनी जिज्ञासायें, अपनी समस्यायें, उभरती हैं, साथ ही दोनों के सम्बन्धों की ('विश्व' और 'विशेष' इतिहास के सम्बन्धों की) गुत्थियाँ भी उलझती हैं। मनुष्य—मनुष्य सामान्य—और उसके समूह विशेषों के बीच कुछ-कुछ वैसी ही भेद-अभेद की उलझने उभरती हैं, जैसी हम ऊपर कला के क्षेत्र में देख आये हैं। संस्कृतियाँ, सभ्यतायें, सभ्यताओं के भीतर राष्ट्र, जन, जाति, संस्थायें, सम्प्रदाय, परम्परायें, ये भेद की परस्पर व्यावृत्ति से ही समझे-आंके जा सकते हैं। कुछ लोग इस भेद को विच्छेद तक के छोर पर ले जाने के हामी दिखाई देते हैं। संस्कृतियों को स्वयं-वलयित स्वयं-सीमित, कुछ-कुछ स्वयंभू-सा मानते हैं। पर फिर 'मनुष्य' में ही यह भेद करना होगा : और मनुष्यों के बीच बैठा यह अत्यन्त भेद कुछ-कुछ स्मृति-शास्त्रियों और मीमांसकों के वर्ण-भेद की तरह का कोटि-भेद हो जायेगा। यहाँ विचार की दृष्टि से स्पष्ट ही फिर मनुष्यत्व को सामान्य रूप से समझने की समस्या होगी। मनुष्य-मात्र में अभेद देखे बिना संस्कृति-भेद भी सार्थक रूप से बनता नहीं दीखता। धर्मशास्त्री मनुष्य-मात्र के साधारण-धर्मों की चर्चा करते हैं। इतिहासकार सभ्यता और संस्कृति के सामान्य लक्षण विचारते हैं। पर इतिहास के लिए भेद में अभेद की एक जटिल गुत्थी फिर भी रह जाती है। इतिहास की बड़ी से बड़ी इकाई सभ्यता या संस्कृति ही उभरती दिखती है, जिनमें परस्पर-भेद है, और जिनकी अलग इतिहास धारायें देखी जा सकती हैं, इनकी अलग धारायें ही नहीं, इनका अलग अन्त या अवसान भी देखा जा सकता है। मनुष्य की कोई एक गति नहीं उभरती। हम पूछे बना नहीं रह सकते : क्या मनुष्य का सम्पूर्ण मानव-जाति के रूप में कोई इतिहास नहीं? कोई विश्व-इतिहास? यहाँ जो सचमुच भेदवादी होगें, उनके लिए ऐसा इतिहास एक संग्रह ही होगा, जहाँ कुछ सादृश्य सामने आ सकते हैं, कोई इकाई नहीं।

कला-चिन्तन में भी भेदवादी के लिये भिन्न-कलायें ऐसा ही संग्रह बनाती हैं। पर एक इकाई के रूप में विश्व-इतिहास की भी कल्पना की गई है। इसकी अपनी समस्यायें हैं, पर विचार की यह दिशा भी स्वाभाविक ही है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुराणों को लीजिये। पुराणों में 'इतिहास' की दृष्टि विश्व-इतिहास की है। चाहे उसके विस्तार का आधार एक संस्कृति, एक देश-विशेष : भारतवर्ष है (जिसकी कल्पना पुराणों में एक देश और एक संस्कृति दोनों के रूप में हुई है)। पुराणों को आज इतिहास कहते संकोच होता है, क्योंकि उसमें इतिहास के आधुना-स्वीकृत प्रमाण-व्यापार की 'अज्ञ' उपेक्षा ही दिखाई देती है। 'ठोस' साक्ष्य के आधार पर काल और तत्काल-घटित तथ्य का निर्णय, फिर इन घटनाओं का — जिसमें 'तथ्य' और 'बोध' या 'चेतना' दोनों का समवाय होता है—ऐसी घटनाओं का काल-क्रम में निवेश और निदान को इस क्रम के आधार पर एक शृंखला-बद्ध चित्र खड़ा करना। यह इतिहास का प्रमाण-व्यापार है। पुराण में इसका कोई लक्षण नहीं। अनुश्रुति और मिथक का बोलबाला है।

पर एक गहरा साधर्म्य है पुराण और आज के इतिहास में। दोनों की चेष्टा मनुष्य के स्वरूप को काल के आधार पर समझने आँकने की है। आज के 'वैज्ञानिक' इतिहास के मूल में एक पूर्वग्रह है जो आज हमारे मानस पर छाया है—'मनुष्य अपने इतिहास से अभिन्न है'। यह बोध पुराण-सदृश है। साक्ष्यों की नींव पर खड़े किये गये इतिहास पहले भी गढ़े जाते थे (चाहे भारत में कम हो), पर इतिहास की यह महिमा नहीं थी कि यह मनुष्य को ही समझने का प्रमाण है। पुराण भी मनुष्य को काल-क्रम में देखते हुए—एक बहुत ही विराट् कालक्रम में देखते हुए—उसका 'स्वरूप' आँकते हैं। मनुष्य को काल से अभिन्न मानते हैं : युग के बदलने के साथ मनुष्य का स्वभाव बरबस बदलता है।

आज के अपने-को-'वैज्ञानिक'—कहते इतिहास के मूल में भी यही दृष्टि है। हाँ, पुराण से हट कर विज्ञान की तरह वह 'ठोस' प्रमाण ढूँढती है : मनुष्य के साक्ष्य-ग्राह्य व्यवहार में। पर जो मनुष्य को इतिहास से अभिन्न करती अ-वैज्ञानिक तत्त्व-दृष्टि भी यहाँ काम करती रही है, जिसने इतिहास को आज ऐसी अपूर्व महिमा दी है, यह दृष्टि जहाँ विचार में आत्मचेतन होकर व्यक्त होती है—अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के कुछ जर्मन चिन्तकों में—वहाँ विज्ञान से अपने को अलग भी करती है। विज्ञान से इन्कार तो नहीं करती, पर मनुष्य को विज्ञान के विषय, प्रकृति, से भिन्न रखती है। यों ज्ञान के दो भेद (या दो पक्षों) की बात करती है : जिसे 'जानने' और 'समझने' का भेद कह सकते हैं। या 'ज्ञान' और 'अन्तर्ज्ञान' का। यह भी कह सकते हैं कि यह भेद 'आयाम' भेद है। विज्ञान की जड़ प्रकृति में एक ही आयाम है जो उसका 'बाहरी' बहिःरूप है।' प्रकृति के 'भीतर' की बात करना वृथा है। उसे हम परिमिति और कार्य-कारण द्वारा जान सकते हैं। उसको 'समझने' का अर्थ ही नहीं बनता। पर मनुष्य में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बहि: के साथ एक अन्त: भी उभरता है : उसे हम 'समझ' सकते हैं, क्योंकि हम भी मनुष्य हैं, अपने अन्त: से साक्षात् परिचित हैं। हम प्रकृति में रहते हैं पर अपने अन्त: की प्रेरणा से प्रकृति का रूपान्तर साधते हुए अपनी संस्कृति बनाते हैं। इस बात में सब मनुष्य एक हैं, तभी हमारी समझ यहाँ मनुष्य-व्यापी है।

इतिहास (और उससे संश्लिष्ट समाजशास्त्र) जैसी विद्यायें मनुष्य की संस्कृति को समझने की विधायें हैं। प्रमाण का आदर्श इनमें विज्ञान ही है : मनुष्य को उसके 'बाहर' से, उसके बर्ताव, व्यवहार, से समझना। 'भीतर' को भी वहीं 'बाहर' ही देखने की प्रबल प्रवृत्ति है। 'बाहर' से भीतर के कई रास्ते निकाले हैं। जो राजमार्ग सा बन गया है। उसे एक तरह का संग-नि:संग-भाव कह सकते हैं—किसी संस्कृति-सन्दर्भ का पार्टिसिपेन्ट ऑब्ज़र्वर होना—द्रष्टा और कर्त्ता-भोक्ता का मेल। पर सच पूछिये तो यहाँ आब्ज़र्वेशन ही बड़ी चीज़ है, पार्टिसिपेशन गौण है : ऊपर ऊपर का सा है, भीतर का नहीं। प्रश्न भी उठाया जाता है कि क्या संस्कृति जैसे सन्दर्भ में भीतर के पार्टिसिपेशन बिना — संस्कृति में ढले बिना — पार्टिसिपेशन हो भी सकता है? और भी टेढ़ा और गहरा प्रश्न होगा : पार्टिसिपेशन में कर्तृत्व की क्या भूमिका होती है? कर्तृत्व के लिए धर्म का (औचित्य का) प्रश्न सहज है। यों औचित्य बोध के साथ कर्म में प्रवृत्त होना भी पार्टिसिपेशन का सहज अंग हो जाता है। पर पार्टिसिपेन्ट ऑबजर्वर दूसरों में ऐसा दखल देने से कतराता है : देखता है और जहाँ तक हो नैष्कर्म्य साधता है। उसे ऑब्ज़र्वर ही कहना चाहिये, पार्टिसिपेन्ट नहीं कहला सकता। संगी नहीं छाया संगी ही होता है। यहाँ प्रतिप्रश्न भी उठाया जा सकता है : मनुष्य की रहनी में (संस्कृति में) पार्टिसिपेशन और ऑब्ज़र्वेशन कहीं अलग भी होते हैं? और रहनी से (संस्कृति से) बाहर मनुष्य ही क्या? ऑब्ज़र्वेशन-पार्टिशिपेशन की पद्धति में एक पूर्वग्रह है कि सहज-रूप में मनुष्य ऑब्ज़र्वर नहीं होता। पर क्या मनुष्य विशुद्ध कर्ता-भोक्ता हो भी सकता है, विशुद्ध संग-भाव में तल्लीन? मनुष्य की आत्मचेतना उसे द्रष्टा और भोक्ता साथ ही बनाये रखती है। एक ही डाल पर साथ बैठी दो चिड़ियों की उपमा पुरानी है (ऋग्वेद में हैं) : एक चिड़िया खाती है, एक बस देखती है। यह मानव-चेतना की सहज स्थिति है।

कहना न होगा कि पार्टिसिपेन्ट-ऑब्ज़र्वेशन वाले आत्मचेतना के इस स्वभाव-द्वैत की बात नहीं कर रहे, और ही कुछ कह रहे हैं। मनुष्य के साथ किसी भी पार्टिसिपेशन में विवेक का उचित-अनुचित बोध, मनुष्य-चेतना की कर्म-प्रवृत्ति में (पार्टिसिपेशन में) सहज ही जागता है। पर पार्टिसेपेन्ट ऑब्ज़र्वर जिन लोगों में रहता है, उनके कर्म को ऑब्जर्व भर करना चाहता है, स्वयं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किसी वास्तव कर्म से कतराता है। उसे पार्टिसिपेन्ट कहना एक उपचार भर है। वह आब्ज़र्वर ही होता है। हाँ, उसके लिए मनुष्य होना आवश्यक है। नहीं तो मनुष्य का ऑब्ज़र्वेशन नहीं कर पायेगा। यह इस पद्धति के लिये एक विडम्बना है क्योंकि वह 'वैज्ञानिक' भी होना चाहती है, जिसे देखती है उसे सर्वथा 'विषय' के रूप में देखना चाहती है। 'पर' के रूप में। इस पद्धतिवाले को हम जासूस कहें तो कह भी सकते हैं : गुप्तचर भी पार्टिसिपेन्ट ऑब्जर्वर ही होता है। चाणक्य-नीति में तो उसे संन्यासी का भेस अपनाने की हिदायत भी दी गई है : यों दूसरों में रह कर, पार्टिसिपेन्ट हो कर भी , विशुद्ध 'नैष्कर्म्य' की वृत्ति रखते हुए वह और अच्छा आब्ज़र्वर हो सकता है।

सफ़ाई दी जा सकती है कि पार्टिसिपेन्ट-ऑब्ज़र्वर को अगर गुप्तचर कहा भी जाये तो भी वह ज्ञान का जासूस है, प्रभुत्व या सत्ता का नहीं। लेकिन इस पर भी संदेह का प्रश्न किया जा सकता है, किया जाता भी है। (लेवी स्ट्राउस जैसे विख्यात समाज-शास्त्री ने तो दो टूक कह भी दिया था कि विजेता ही विजित का ऑब्ज़र्वेशन-अध्ययन कर सकता है, विजित विजेता का नहीं; इसलिए पश्चिम ही दूसरी संस्कृतियों का, तीसरी दुनिया का, समाजशास्त्रीय ज्ञान साध सकता है, पश्चिम का ज्ञान दूसरे नहीं साध सकते — उनमें 'अधिकार' नहीं है।) पर यह प्रश्न मैं यहाँ नहीं उठाना चाहता, इसका प्रसंग नहीं है। यहाँ क्रिटिकल काँशसनेस की बात लीजिये और उससे जुड़े कॉम्पैरेटिव मेथड की। कहते हैं पार्टिसिन्ट-ऑब्जर्वर इनका प्रयोग करता है; यही बात उसे दूसरों का 'अध्येता' बनाती है। इसी कारण उसकी जिज्ञासा का फल 'ज्ञान' होता है। पर इस बात में नई बात क्या है? कौन सा ऐसा प्रमाण-व्यापार है जो ऊहापोह, परीक्षण और सदृश-विसदृश तुलना के बिना होता है? और क्या यह मनुष्य-मात्र-सुलभ नहीं है? मगर, हाँ, इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि यह मनुष्य-सुलभ व्यापार, विद्या या शास्त्र का रूप लेने के लिए एक विशेष साधना चाहता है, साधना का एक नैरन्तर्य, एक परम्परा चाहता है, जैसी आज इतिहास और समाजशास्त्र की है। पर इसमें भी नई 'अनूठी', बात क्या है? 'लौकिक' और 'परीक्षक' का भेद पुराना है। परीक्षक के साथ विद्या और शास्त्र का सम्बन्ध भी पुराना है; और फिर मनुष्य को जानने समझने की चेष्टा भी पुरानी है। नया कुछ है तो यह दावा है कि आज के इतिहास और समाज-शास्त्र जैसे 'मानव' शास्त्र, मनुष्य का पहली बार 'वैज्ञानिक' अध्ययन कर रहे, विज्ञान-तुल्य 'ठोस', 'वस्तुनिष्ठ' ज्ञान उपलब्ध कर रहे हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस दावे को मानने नहीं मानने की बात हम जाने भी दें तो भी एक बात स्पष्ट उभरती है : इतिहास और समाजशास्त्र को जब परीक्षा-बुद्धि के साथ की गई ऑब्ज़र्वेशन और पार्टिसिपेशन की प्रणाली कहा जाता है, तो पार्टिशिपेशन के अर्थ को उसके सही अर्थ की छाया-मात्र बनाकर कहा जाता है। इतिहास में तो पार्टिसिपेशन सचमुच ही छायामात्र होता है।

इसी बात को ध्यान में रखते हुए विचार के इतिहास को प्रसंग बनाना चाहता हूँ। वहाँ भी संस्कृति-विशेष के काल-संदर्भ-विशेष में विचार को समझने आंकने के लिए पार्टिसिपेन्ट ऑब्ज़र्वेशन के आदर्श की बात की जाती है। अभी पिछले ही दिनों एक इन्डोलॉजिस्ट घर आये थे, जो भारतीय दर्शन के इतिहास का अध्ययन करते हैं। कुशल, सूक्ष्म और उदार अध्येता जान पड़े। उनमें पश्चिम का वह पुराना अज्ञ आत्मंभर भाव नहीं था कि दर्शन पश्चिम की ही सम्पत्ति है। उलटे बोले कि उनकी दर्शन में दीक्षा ही भारतीय दर्शन के माध्यम से हुई, पश्चिम का दर्शन बाद में पढ़ा और भारतीय दर्शन के माध्यम से ही उसमें प्रवेश किया। भारतीय दर्शन के लिए उनमें इन्डोलॉजी वाला 'परायापन' नहीं है। इस अर्थ में 'भीतर' के ही पार्टिसिपेन्ट विद्यार्थी हैं, 'बाहर' के ऑब्ज़र्वर नहीं। फिर भी उन्होंने पार्टिसिपेन्ट ऑब्ज़र्वेशन की ही बात की। कहा कि वे इसी प्रणाली को अपनाते हैं।

दर्शन के प्रसंग में क्या अर्थ हो सकता है ऐसी उक्ति का? मुझे तो एक विषम सा तात्पर्य उभरता दिखता है, जो विचार के अभिनिवेश से किनारा करने की दिशा में ले जाता है। 'किनारा करना' इस मुहावरे का यहाँ जान बूझकर निवेश कर रहा हूँ क्योंकि बात विचार करने से तटस्थ रह कर विचार को विषय-मात्र बना देने की दिशा है। किसी संस्कृति में विचार के किसी संदर्भ में क्या सोचा गया था इस परीक्षा तक ही अपने को सीमित रखता है विचार का आब्जर्वर इतिहासकार। उस विचार में 'भागीदार' पार्टिसिपेन्ट नहीं बनता। उसे इतिहास में ही रखना चाहता है, आज का स्पन्द नहीं बनाना चाहता।

अब यह **विडम्बना** भी देखिये कि अपने अध्ययन के लिए विचार का इतिहासकार जो **'संदर्भ'** बनाता है, वहाँ संदर्भ की वह भूमि ही प्रबल होती है जिसे मैं संदर्भ की दूसरी भूमि कह आया हूँ। विचार के इतिहास के लिए विचार की अपनी दृष्टियाँ, ऊहापोह, खण्डन-मण्डन, उक्ति-प्रत्युक्ति का गति-प्रवाह, काल-विशेष, समाज-विशेष के बंधन से लगभग निर्बंध होता है।

ऐसे संदर्भ के किसी भी 'ऑब्जर्वेशन' के लिए भी विचार का भागीदार (पार्टिसिपेन्ट) होना अनिवार्य है। बिना विचार किये विचार को ऑब्ज़र्व नहीं

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

किया जा सकता। यह सम्भव ही नहीं है। तो फिर यह ऑब्ज़र्वर या द्रष्टा की मुद्रा क्या? यह कौन सी विचार-भंगी है जहाँ विचार को केवल 'देखा' जाता है? यों तो विचार करने में निहित ही है यह भंगी। विचार का एक पक्ष है, किसी विचार को समझना। इसमें एक तटस्थ मुद्रा होती ही है। पर यहीं रुक जाना, यह क्या विचार का पूरा धर्म निभाना है? ऑब्ज़र्वर यहीं रुक जाना चाहता है, जानबूझ कर रुक जाना चाहता है। विचार को विचार के इतिहास तक घेर देना चाहता है। हम कह सकते हैं कि ऐसा पूरी तरह से न किया जा सकता है, न कोई कर पाता है। पर इतिहास की महिमा के साथ यह प्रवृत्ति भी आज प्रबल है। इतिहास अगर मनुष्य का ज्ञान कराता है तो उसके विचार का भी ज्ञान कराता है। इससे निष्कर्ष स्वाभाविक है कि विचार का ज्ञान विचार के इतिहास का ही ज्ञान है और यों विचार, करने की नहीं देख लेने की बात बन जाती है। फिर उसे विगत के किसी कोष्ठक में डाल देने की।

दो बातें यहाँ कहूँगा। एक तो यह कि विचार का द्रष्टा अगर विचार कर के ही देखता है (किये बिना देख ही नहीं सकता), तो विचार का परिष्कार, परिमार्जन भी देखने के व्यापार में ही अपेक्षित होता है : जो अस्फुट, अस्पष्ट है उसे स्फुट स्पष्ट करना। नहीं तो बात 'समझ' की उचित, उदार धरती ही नहीं पायेगी। विचार के अच्छे इतिहासकार ऐसा करते ही हैं।

परस्पर-विवाद करते हुए अच्छे प्रतिपक्षी भी ऐसा करते हैं। बल्कि बात को इतिहासकार से आगे भी बढ़ाते हैं। तर्क-रसिक, नव्य-नैयायिकों की परिवाटी थी कि अशक्त पूर्वपक्ष को युक्तियों से समर्थ बनायें, ताकि खण्डन में रस बढ़े और अपने दर्शन में पैठ।

इससे भी आगे बढ़ा जा सकता है। किसी भी विचार में दूसरे विचारों की सम्भावनायें होती हैं। विचारक उन्हें खोलता चल सकता है। दया जी को अकसर ऐसा करते हमने कइयों ने देखा ही है। पर हम यहां पहुँच जायें तो बात केवल इतिहासकार की तरह विचार को समझने की नहीं रह जाती, स्वतन्त्र विचार करने की हो जाती है। यह भी साथ उभर आता है कि विचार में समझने से करने तक एक ही सीधी डोर है, विचार की एक ही आत्म-प्रक्रिया है : किसी विचार को स्पष्ट करना — जो कि उसे समझने के लिए आवश्यक — यह काम भी विचार की सम्भावनायें देखे बिना नहीं हो सकता। इसके विपरीत विचार का इतिहासकार विचार की इस सहज प्रक्रिया में लगाम की मांग करता है। विचार की डोर में कहीं गाँठ डाल देना चाहता है कि अब यहाँ से आगे बढ़ कर विशुद्ध विचार के क्षेत्र में नहीं उतरेंगें।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह हुई पहली बात। दूसरी बात पर आता हूँ, जो पहली से जुड़ी है। हम कह सकते हैं कि चलिए ऊपर की बात ठीक सही पर साथ मं यह भी सोचना चाहिये कि इतिहास का भी कोई बँधा-बँधाया सदा-के-लिए सिद्ध मार्ग नहीं है। उसकी भी नई सम्भावनायें हैं जो सामने आती भी रहती हैं — अनिवार्य नहीं कि किसी गतानुगतिक परिपाटी या रूढि का पालन हो। किसी के विचार को समझने तक बँधे रहने की क्या जरूरत, साथ-साथ विचार भी किया जा सकता है। इतिहासकार की भूमिका छोड़े बिना भी ऐसा किया जा सकता है, क्योंकि इसमें विचार के अपने-द्रष्टा-भाव के टूटने की बात अनिवार्य नहीं है।

विचार का आत्म-द्रष्टा भाव तो विचार में ही निहित है। ऑब्ज़र्वर-पार्टिसिपेन्ट का भेद तो बनाना पड़ता है। इसे अपनी तरह बनाया जा सकता है। पर बनाना ज़रूरी है, क्योंकि अगर विचार में आत्मसंयम के साथ बनाये गये इस भेद को छांड़ दें तो विचार के इतिहास को झुठलाने की नौबत आयेगी। आज विचार के इतिहास ने एक अपनी जगह बनाई ही है और अगर उसके रास्ते चलना हैं तो कोई ऑब्ज़र्वर-दृष्टि रखनी ही होगी। इसकी भिन्न सम्भावनायें हों, पर विचार और विचार के इतिहास में अभिनिवेश का जो भेद है, वह भेद ही छोड़ दिया जाये तो इतिहास भी छोड़ना पड़ेगा।

3

कुछ ऐसा ऊहापोह मैं अपने उठाये काम को ले कर करता रहा हूँ। सांचा यही था कि कुछ इतिहास, कुछ इतिहास में आये विचार के साथ विचार, यही करता हुआ भारत में कला-चिन्तन का इतिहास आँकने का कोई पहलू निकालूँगा जिसे किसी अर्थ में 'इतिहास' कहा जा सके।

यहाँ जो पिछली चर्चा में आ चुका है, नये सिरे से, नई तरह से लाया जा सकता है — यह कि कला-संवेदना स्वभाव से इतिहास-निष्ठ है, उसके रूप इतिहास के संदर्भ में ही बनते हैं इसलिए उस को इतिहास से मुक्त नहीं किया जा सकता। इस कारण कला-चिन्तन भी इतिहास का घनिष्ठ हो जाता है क्योंकि संवेदना ही उस चिन्तन का मूल है। कला-संवेदना का इतिहास से बँधा होने का एक मूल कारण है : कलाकृति। बल्कि बदलती कलाकृतियों का बहुवचन। कलाकृति विचार की तरह, सूक्ष्म, अनिद्रिय-गम्य, अवस्तु नहीं होती। बड़ी ठोस चीज़ होती है। इद्रिय-ग्राह्य होना उसका एक व्यावर्तक धर्म ही है। इन्द्रिय-ग्राह्य न हो तो कला ही नहीं होगी। कलाकृति की बात कला के साक्षात अनुभव के बिना सार्थक नहीं हो सकती। फिर मनुष्य-निर्मित वस्तु होना भी कला का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्यावर्तक धर्म है : यों जहाँ, जैसे, जिस उद्देश्य से, जिस संदर्भ में बनी, ऐसी बातों का ज्ञान कला की पहचान का अपरोक्ष अंग हो जाता है। दूसरे शब्दों में, उसका मानव-प्रसंग उसके समझने का साधन हो जाता है। साथ ही, अनिवार्यतः, परिवर्तन उसके स्वरूप में निहित हो जाता है। कला-कर्म की परिस्थितियाँ काल-क्रम में होती हैं—संस्कृति-विशेष के, परम्परा-विशेष के काल-क्रम में। तो संस्कृति की किसी भी परम्परा की तरह है कला-परम्परा, बल्कि परम्परायें, जिनके अपने उपाय-उपकरण, अपनी क्षमतायें, अपने आदर्श, उद्देश्य होते हैं। इनमें रूपान्तर घटता चलता है। साधा भी जाता है। मनुष्य के किसी भी कर्म की तरह कला-कर्म को भी कृतियों के एक सुश्रृंखल काल-क्रम में रख कर ही समझा जा सकता है। हमारी दृष्टि क्रम-निष्ठ व्यवस्थित श्रृंखला, रूपान्तर की परम्परा में देखते हुए ही कला को परख पहचान सकती है। कलाकृति विशेष का बोध भी ऐसे ही काल-सन्दर्भ में बनता है। इससे छिटक कर हम अलग हो जायें तो हमारा कला-बोध अधूरा ही नहीं, विकृत, भ्रान्त भी हो जा सकता है।

दो बातें हैं, यहाँ : कलाकृति की इन्द्रिय-गम्यता और निर्मिति होने के नाते उसकी इतिहास-निष्ठता। इससे दो और बातें निकलती हैं। एक तो यह कि संवेदना के लिये कलाकृति का सामने होना आवश्यक है, केवल सामने होना ही नहीं, दूसरी कलाकृतियों के साथ एक व्यवस्थित काल-श्रृंखला में सामने होना आवश्यक है। दूसरी यह कि कलाकृति अगर इतिहास निष्ठ है — मानव की काल-यात्रा के किसी सन्दर्भ में बसी-रची है — तो सन्दर्भ ही उसकी पहचान नहीं होता, वह भी सन्दर्भ की पहचान हो जाती है।

कला के इतिहास लेखन की परम्परा को देखे तो कला की यह पकड़ कि वह भी सन्दर्भ की पहचान है, यह बात विशेष रूप से उभरती दिखाई देती है। कला के इतिहास को एक विशेष आग्रह और अभिप्राय देती दिखाई देती है। ऊपर कह आया हूँ कि मनुष्य को मनुष्य के इतिहास से अभिन्न देखना यह इतिहास दृष्टि का अपना आत्म-श्रेयत्व बोध है और उसके महत्त्व का बीज। पश्चिम में इस दृष्टि का आरम्भ, एक और जिज्ञासा का अन्तरंग रहा है। अपनी ही पहचान की खोज : अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में जब मनुष्य को इतिहास से एक करती दृष्टि का उदय हुआ, वह समय योरप की अपनी दिग्विजय, अपने प्रभुत्व के आत्मबोध का भी युग था। उसकी पहली तलाश उसे अपने ही इतिहास की थी : अपने गौरव-बीज की और काल-यात्रा में उस बीज के पनपने की। शेष विश्व का इतिहास योरप के लिये अपनी ही विशिष्ट प्रतिभा-यात्रा के इतिहास का अनुषंगी था। अपने आप को योरप ने ग्रीस के जागरूक विकसित, उत्तराधिकारी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के रूप में देखा। वहीं अपना प्रतिभा-बीज पाया। इसलिए ग्रीस की पहचान की ओर झुका। कर्म, ज्ञान और विवेक की दृष्टि से ग्रीस की प्रवृत्तियों, आदर्शों और विचार में योरप ने अपनी यात्रा का आरम्भ देखा और भावना-बोध की दृष्टि से ग्रीस की कला में। कला-साधना की गम्भीरतम प्रेरणा और निदर्श के रूप में ग्रीस का साहित्य, साहित्य-चिन्तन, मूर्ति-कला और वास्तुकला, इनका महत्त्व योरप में पुराना था, ये 'क्लासिकल' कलायें थीं, कला साधना की मातृकायें। अठारहवीं सदी में ये आत्म-प्रत्यभिज्ञा कीं भी साधन हो गईं—एक नई इतिहास-साधना के रास्ते।

जिन कलाओं को योरप ने आत्मावलोकन का दर्पण बनाया उन कलाओं की कृतियाँ आज भी 'उपलब्ध' हैं, 'इन्द्रिय-गम्य' हैं। साहित्य को किस अर्थ में 'इन्द्रिय-गम्य' कहा जाये यह एक उलझन है : शब्द, अर्थ से सदा-सम्पृक्त होता है और अर्थ को इन्द्रिय-गम्य कहना निर्विचार होगा। पर साहित्य की कृति का मूल रूप में 'उपलब्ध' होने और उसके 'साक्षात्' ज्ञान की बात की जा सकती है, जो कि अनुपलब्ध या पाठ-भ्रष्ट कृति के बारे में नहीं की जा सकती।

एक बात यहाँ साफ नहीं है। उसे साफ करता हुआ आगे बढ़ना चाहता हूँ। जिन कलाओं की अभी बात की उनके माध्यम ऐसे हैं कि काल में टिक सकते हैं, 'ठोस' हैं, प्लास्टिक हैं (साहित्य भी लिपि में टिकता है और लिपि का आधार-माध्यम 'ठोस' होता है)। दूसरी कलायें, जो प्रयोग की कलायें कहलाती हैं — संगीत नृत्त, नृत्य नाट्य (अपने खेले गये रूप में नाटक) ... ये 'टिकाऊ' नहीं होतीं। तभी इनको कला के ग्रीस-धर्मी इतिहास में महत्त्व नहीं दिया गया।

मैं समझता हूँ कि यहाँ दो अलग बातों की ओर ध्यान देना जरूरी है जो योरप में कला के इतिहास से जुड़ी हैं और इसलिए हमारे भी इस विषय के चिन्तन से जुड़ी हैं। एक तो यह कि योरप की 'क्लासिकल कलाओं' में प्रयोग-प्रधान कलायें आ ही नहीं सकतीं। योरप का आत्मबोध जिस जड़ें तक — ग्रीस तक — अपने आपको ले जाना चाहता है, योरप के नृत्य संगीत, (और खेले गये रूप में) नाट्य का उससे सम्बन्ध ही नहीं है। विदग्ध, अभिजात (मार्गी) और स्वतन्त्र कला के रूप में नृत्य तो पश्चिम में बहुत नया है। (दो ढाइ सौ साल पुराना होगा)। योरप की 'देशी' (लोक) कला से उभरा जान पड़ता है : ग्रीस से इसका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। योरप के मार्गी संगीत में तो ग्रीस से सम्बन्ध का अभाव ही नहीं, उलटे सम्पूर्ण दिशा-भेद के लक्षण उभरते हैं : ग्रीस के संगीत में हमारे मार्गी संगीत की तरह स्वर-संयोजना एक रेखा में आगे बढ़ती थी (लगता है राग जैसा भी कुछ था), जबकि योरप के मार्गी संगीत की स्वर-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

योजना के मर्म में पोलीफ़ोनी प्रधान है — कई स्वरों, कई धुनों का एक साथ उद्घोष। यह मार्गी संगीत वहाँ के मार्गी नृत्य से पुराना है, हजार साल का इतिहास होगा उसका, पर 'क्लासिकल' का जो प्रधान, गौरवमय अर्थ, 'ग्रीस से सम्बन्ध' है, उस अर्थ में उसको 'क्लासिकल' कहना उपचार मात्र है — उसका ग्रीस से कोई सम्बन्ध नहीं।

योरप की संस्कृति कितना ही 'ग्रीस' 'ग्रीस' जपती हो, अपने को ग्रीस का उत्तराधिकारी कहती हो, पर ग्रीस से उसका विच्छेद ही उसके इतिहास में सिद्ध है। ग्रीक परम्परायें बकायदा नष्ट की गई थीं। (जैसा योरपवाले कहते ही हैं)। सदियों बाद दुबारा सम्बन्ध बिठाने की चेष्टा हुई थी। जिस बात को चार-पाँच सौ साल ही हुए हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के जिस इतिहासवादी आत्मबोध की मैंने ऊपर चर्चा की, उस विचारधारा में इतिहास का एक मूल प्रयोजन ही यही दिखाना था कि ग्रीस से अलग हो जाने के बावजूद भी योरप की 'आत्मा' ग्रीक है। कुछ विचारक तो यहाँ तक कहते थे कि 'आधुनिक' योरप की आत्मा ही वास्तव में 'ग्रीक' है, ग्रीस का विशुद्ध, परिमार्जित रूप है , ग्रीस भी इस अर्थ में ग्रीक नहीं था, आधुनिक योरप की सम्भावना भर था।

ग्रीस की अन्तरंग पहचान के लिये अठारहवीं सदी के इतिहासवादियों का एक प्रधान स्तम्भ था विचार और दूसरा ग्रीस की वह कला, जिसकी ठोस 'प्लास्टिक' कलाकृतियों उपलब्ध थीं। आधुनिक योरप तक की उनकी विकास की काल-यात्रा योरप के आधुनिक आत्मबोध के लिए एक महत्त्व की बात हो गई, और कला के इतिहास ने जन्म लिया।

हम भी जब अपनी विद्या-साधना में, इतिहास-बोध में, आधुनिक हो कर अपने इतिहास और अपनी पहचान की ओर मुड़े तो कला का इतिहास आत्म-बोध का एक स्तम्भ बना। पर पश्चिम ने अपने प्रयोजन से कला का जो अर्थ रखा था, वही हमने रखा : हमने भी कला के इतिहास के लिए प्लास्टिक कला को ही आधार रखा; और साहित्य को।।

'उपलब्धि' की बात को लीजिये। अनुपलब्धि के कारण ही प्रयोग-प्रधान कलाओं का कोई इतिहास जैसा इतिहास नहीं रचा जा सकता। पर कला का इतिहास अगर कला का अभिन्न अंग है तो प्रयोग की कलाओं को भी इतिहास से वंचित कैसे रखा जाये? संगीत में योरप की कला का मूल ग्रीस तक तो नहीं जाता, पर संगीत उसके आत्म-बोध और आत्मगौरव का एक बड़ा हिस्सा रहा है। वह ग्रीक न हो पर उसमें ग्रीक 'रीज़न' और ग्रीक 'हारमनी' (सौषम्य तत्त्व) की ग्रीक आत्मा है (इतिहासवादी कह सकता है कि ग्रीस के अपने संगीत में भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह इतनी समर्थ नहीं थी, क्योंकि उसमें भिन्न स्वरों का एक साथ प्रयोग नहीं होता था और यही तो 'हारमनी' का सच्चा लक्ष्य होना चाहिये!)

योरप में आज संगीत के लिए भी उसका इतिहास-बोध आवश्यक है। इसके लियें पुराने संगीत की जस-की-तस उपलब्धि आवश्यक हो जाती है। पर इस उपलब्धि से संगीत का तत्काल-विलुप्त-होता माध्यम ही मानो हमें वंचित रखता है। संगीत (और नृत्त) को यों का यों रखने के लिए एक बड़ी रूढ, हर-अंगप्रत्यंग को अनुवृत्ति में कसती एक बड़ी कृच्छ्र-साध्य परम्परा चाहिये जो कर्मकाण्ड के बाहर अविद्यमान सी होती है। भाषा की तरह काल के साथ रूपान्तर ही सहज सम्भाव्य होता है। पर पश्चिम में संगीत एक तरह से अनिवार्यतया लिपिबद्ध भी होता है। इसके बिना प्रस्तुत ही नहीं हो सकता; क्योंकि कई भिन्न वादक एक साथ भिन्न स्वर और भिन्न स्वर-संचार की प्रस्तुति करते हैं जो लिखे बिना सबके सामने नहीं रक्खी जा सकती है। ऐसे लिपिबद्ध को भाषा में लिखित पुस्तक की तरह यों या यों रक्खा जा सकता है— पाण्डुलिपियों में, छपी पुस्तकों में। प्रस्तुति में सूक्ष्म परिवर्तन आ सकते हैं (आते ही हैं) — जिन से बचने के लिए आज कुछ इतिहास-प्रेमियों ने बारीक उपाय भी निकाले हैं — पुराने वाद्यों को यों का यों बनाने की चेष्टा की जाती है, बजाने के पुराने तरीकों के विवरणों को ध्यान में रख कर उन्हें यो या यों निभाने का प्रयास किया जाता है।

कला को उपलब्धि और इतिहास दोनों से युगबद्ध माना जाये तो ऐसे प्रयास उचित ही हैं। पर भारत के विदग्ध, मार्गी या 'शास्त्रीय' संगीत या नृत्त को लीजिये। यहाँ पुरानी कलाकृतियों की उपलब्धि का प्रश्न ही नहीं उठता। हम कला में पश्चिम की तरह कला के इतिहास को महत्त्व नहीं देते — किसी भी कला में नहीं देते। फिर कई कलाओं में भी पुराने को संजो कर रखते हैं। प्रयोग की कलाओं में ऐसा नहीं करते। संगीत, नृत्त जैसी कलाओं में आलाप (या प्रस्तुति के भीतर ही रूपान्तरण), प्रस्तुति में पिनद्ध होता है। यों कि यों प्रस्तुति का प्रश्न ही नहीं उठता। वह साधी ही नहीं जाती — या किसी और अर्थ में साधी जाती है। राग को 'वही' रखना कृति को 'वही' रखने से बड़ी बात मानी जाती है, और राग का 'वही' 'यों का यों' वही नहीं होता।

हम इस बात के प्रति जागरूक हों तो कला के इतिहास का महत्त्व ही संशय के घेरे में आ जाता है। या उसकी ओर एक नई-दृष्टि की आवश्यकता हो जाती है। फिर यह भी सोचिये कि अगर एक संस्कृति विशेष में (भारत में) कला के इतिहास का कला-बोध में महत्त्व नहीं रहा, उलटे पूरी आत्मचेतना के साथ ऐसी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रौढ़ कलायें साधी गईं जिन्हें अपने इन्द्रिय-गम्य रूप में स्थिर रखने का आदर्श ही नहीं था तो फिर कला के इतिहास की बात क्या एक संस्कृति विशेष के एक संदर्भ विशेष तक सीमित होने की सी बात नहीं हो जाती है।

प्रतिप्रश्न होगा : तो क्या कला का अपने सन्दर्भ से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं? इन्द्रिय गम्य तो उसे होना ही होता है और यह बिना सन्दर्भ के कैसे सम्भव है? फिर कला की निर्मिति, कला की संवेदना, यह किसी परम्परा में रह कर ही होती है, परम्परा को इतिहास-बाहर कैसे किया जा सकता है?

माना। पर मैं नहीं समझता कि कला के इन्द्रिय-गम्य और संदर्भ या परम्परा-निष्ठ होने की स्वीकृति उसके वैसे इतिहास की स्वीकृति है, जैसे इतिहास को आज मोल दिया जाता है : उपलब्ध कृतियों की काल में खड़ी पंगत के आधार पर आंका गया वृत्त। अगर संवेदना को प्रमाण मान कर हम कला का इन्द्रिय-गम्य होना अवश्यक मानते हैं, तो यह भी देखिये कि संवेदना कला को इन्द्रिय-बोध तक सीमित नहीं रखती, कला की इन्द्रिय-गम्यता बोध के अनिन्द्रिय अन्तरिक्ष का संकेत होती है — और इसमें अचंभा भी क्या? किसी भी ज्ञान के लिए इन्द्रिय-बोध आवश्यक हो पर एक संकेत ही होता है, चाहे विज्ञान हो या इतिहास या कला। विचार के विशुद्ध आयामों में तर्क, गणित, प्रत्ययों के अपने सम्बन्धों का मनन — ये इन्द्रियों से दूर होते हैं तो इनमें 'ज्ञान' की बात भी लाक्षणिक होने लगती है। पर इनके बिना भी 'ज्ञान' नहीं होता। कोई विद्या, जैसे विज्ञान, जब ज्ञान का एकान्त दावा करती है तो इन्द्रिय-बोध को तर्क के माध्यम से ही एक विशेष को अर्थ में सीमित भी करती है : इन्द्रिय-बोध के एक पक्ष को — गणित-गम्य 'परिमाण' पक्ष को — 'सम्यक्' इन्द्रिय-बोध के रूप में परिभाषित करती है। कहती है कि सत्य से सम्बन्ध बोध के उसी पक्ष का है। शेष कल्पना है।

इतिहास तो इन्द्रिय बोध तक सीमित रह ही नहीं सकता। उसका सबसे बड़ा साक्ष्य है, वाङ्मय। और वाक् के इन्द्रिय-बोध की बात की जाये तो पहेलियाँ ही उभरेंगी और बात भी वाङ्मय में ही होगी। इतिहास का दूसरा बड़ा साक्ष्य—या पूर्वग्रह कहना अधिक उचित होगा — वह है मनुष्य का परिचित व्यवहार-लोक। पर भूलना नहीं चाहिए कि मनुष्य के आज के व्यवहार को नींव में रखते हुए ही हम विगत के मनुष्य की बात करते हैं। वही हमें मनुष्य के रूप में मनुष्य का बोध देता है। मनुष्य क्या है (और इस 'है' में 'क्या होना चाहिये' भी अभित है) — इसका बोध, इसकी विभिन्न दृष्टियाँ, यह इतिहास की पहली धरती है जो आज के परिचित व्यवहार पर स्थित है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

फिर यह भी देखिये कि इतिहास प्रधानत: मनुष्य के कर्म का ही इतिहास होता है। हम साक्ष्य की बात तो करते हैं पर कर्म का साक्ष्य कैसा ? इन्द्रिय बोध तक तो उसे किसी भी अर्थ में सीमित नहीं किया जा सकता। इन्द्रिय बोध वहाँ संकेत ही हो सकता है। इस संकेत का भी इतिहासकार कोई साक्षात् नहीं करता। उसे कल्पना में ही जगाता है। विगत के अवशेषों और विशेष कर वाङ्‌मय के आधार पर कर्म के विवरण-वर्णन देखते हुए। स्पष्ट ही अगर इतिहासकार की मनुष्य-सुलभ कर्म-चेतना आज जागृत न हो तो कल के चित्र सम्भव ही नहीं होंगे। अपनी कर्म-चेतना में आज जागते हुए ही इतिहासकार विगत की विभिन्न कर्मधाराओं के क्रमगत परिदृश्य बनाता है। हमने ऊपर जिन समाज-संस्कृति के सन्दर्भों की बात की इतिहासकार के लिए ये मूलत: कर्म के ही सन्दर्भ होते हैं। पर इतिहासकार आज अपने अनुभव का संदर्भ-ज्ञान पालते हुए ही पिछले संदर्भों की टोह ले पाता है, उनके भेदों को परख पाता है। एक विषम प्रश्न भी अपने-आप से पूछिये : आज जबकि सी.एन.एन. जैसों की कृपा से और टी.वी. के माध्यम से कर्म का इन्द्रिय साक्षात्कार भी अधिक से अधिक सम्भव होता जा रहा है, साक्ष्य का यह बढ़ता ढेर क्या इतिहासकार को अधिक-देखती आंख दे देगा? आज के उलझे हुए सन्दर्भ के सूत्रों को सहेजने में अधिक सहायता देगा? अगर पुराने साक्ष्य भी यों ही बरसते हुए मिलते तो इतिहास क्या अधिक पैठ का होता, या अधिक 'सच्चा' होता? हम शायद इतिहास रचते ही नहीं।

अब कला पर आइये, और कला के इतिहास की इस मांग पर कि कला-कृति सामने साक्षात् हो तभी इतिहास बनेगा। इस मांग को परिप्रेक्ष्य में देखिये। हम पिछली युक्ति दोहराते हुए कह सकते हैं, कला संवेदना की वस्तु है, इसलिए उसके साक्षात् के बिना वह 'उपस्थित' नहीं होती — चाहे इस उपस्थिति में अनिन्द्रिय तत्त्व भी क्यों न होते हों। हम यह भी कह सकते हैं कि कला के स्वरूप में ही एक विषम-सा-लगता विचित्र विरोधाभास है : होने को कला कल्पना की वस्तु होती है पर उसका होना बड़ा ठोस होता है, प्रत्यक्ष वस्तुस्वरूप। कला की उपस्थिति बड़ी विशिष्ट होती है। उसके अवयवी का दर्शन उसके अवयवों के अंग-प्रत्यंक के साक्षात के बिना नहीं होता।

लेकिन सोच कर देखिये : ऐसी बात क्या कर्म में नहीं होती? दूसरा हमारे साथ जो करता है उसके हम कितने सूक्ष्मदर्शी होते हैं और सचमुच जब कुछ करने सा करते हैं (चाहे नीति हो या धर्म) तो कितनी छोटी-छोटी बातों का ध्यान रखते चलते हैं? कलाकार ही की तरह कैसे, किस भाव, किस भंगी में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कर रहे हैं, इसका कितना तिलतिल ध्यान रखते हैं? कर्म में ही क्यों, विचार जो सामान्य से अति सामान्य की ओर बढ़ता है, वहाँ भी विशेष का यही समादर दिखाई देता है : किसी विचारक की विचार-प्रक्रिया में उतर कर देखिये। विशेष को ही हम से बड़ा करने लगें तो न कर्म का इतिहास बनेगा न विचार का।

फिर भी एक बात कही जा सकती है : युक्तियाँ कुछ भी दी जायें सच यह है कि कला की उपस्थिति कृति का साक्षात् चाहती है। कर्म और विचार में हम परोक्ष रह कर भी विवरणों के माध्यम से इनके स्वरूप का 'उद्धार' कर सकते हैं। कला में ऐसा नहीं कर सकते। पर इतिहास चर्चा में ही जो परोक्ष भाव है, उससे कैसे बचेंगे? माना कि कला का इतिहास कला की संवेदना को ऊह्य रखता है, पर संवेदना में उसका सम्बन्ध होता परोक्ष का ही है। कला की आलोचना से कला के इतिहास की तुलना कर के देखिये। अच्छी आलोचना सचमुच कृति का साक्षात् चाहती है (उसके साक्षात् में हमें और पैठ दे भी सकती है), पर इतिहास तो कृति से हट कर ही कृतियों पर केन्द्रित होता है : कृतियों के काल-चित्र, युग-चित्र बनाता है, जहाँ कृति तो विचार के नेपथ्य में अपेक्षया रहती है। ऊह्य ही रहती है, सामने नहीं।

सच पूछिये तो कला का इतिहास कला-चिन्तन का ही एक प्रकार है जो अपने आप को कला का अपरोक्ष अन्तरंग बताते हुए अपनी महिमा बढ़ाना चाहता है। उसकी यह स्थापना कि कला का ठीक बोध इतिहास में निष्ठ है, यह एक मत-विशेष ही है —चाहे 'युग-बोध' जैसा कुछ गहरा संस्कार क्यों न हो गया हो। हम देख चुके हैं कि यह मत स्वयं इतिहास-निष्ठ है, संस्कृति के एक संदर्भ, एक अभीप्सा विशेष में प्रतिष्ठित है। यह भी कह आया हूँ कि हमारा विगत-बोध हमारे आज के मनुष्य-बोध में प्रतिष्ठित होता है। इस बोध में एक प्रसार होता है, एक व्यापकता होती है, जिसके बिना विगत का अवलोकन सम्भव नहीं। इसमें एक स्वातन्त्र्य भी होता है, जिसके बिना अवलोकन ही सम्भव नहीं।

यही बात संवेदना के लिए भी कही जा सकती है। हम अपनी आज की संवेदना से ही कला में उतरते हैं। आज की हो या विगत की। संदर्भ का ज्ञान कला के परिचय के लिए उपयोगी हो सकता है पर एक बार कला-कृति संवेदना में जाग उठे तो वह संदर्भ से मुक्त हो जाती है। उसका अपना स्वातन्त्र्य बन जाता है। नहीं तो कृति कला नहीं होगी, संदर्भ का एक और अवयव मात्र होगा। संवेदना के लिए कला व्यंजना की वस्तु होती है, जो सदा आज की बात होती है, विगत की नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हाँ, व्यंजना का अपना स्वतन्त्र वैविध्य है, विस्तार है, स्तर हैं, चेतना की अन्य वृत्तियों से सम्बन्ध हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि हम किसी परम्परा में ही व्यंजना की सहृदयता सीखते हैं, हमारी संवेदना की दीक्षा होती है, शिक्षा होती है। पर यह बात उसे सन्दर्भ में डाल नहीं देती है, इतिहास की वस्तु नहीं बना देती है। दूसरे सन्दर्भों के प्रति खोल देती है।

विचार की तरह ही संवेदना भी संदर्भ में रहती हुई भी संदर्भ-मुक्त होती है। यहाँ कहना न होगा कि कला पर विचार या कला-चिन्तन भी इसी कोटि में आता है। उसने क्या रूप लिए, कितना समृद्ध है, नहीं है, यह बात और है। विचार एक परम्परा में होता है, उसी परम्परा में विचारक की शिक्षा-दीक्षा होती है, वहीं से वह प्रश्न संजोता है, युक्तियाँ लेता है, विचार की गतियों के लक्ष्य सीखता है, दृष्टि अपनाता है। पर इसके साथ ही विचार की आत्मचेतना का स्वातन्त्र्य सदा स्पष्ट रहता है। विचारक को परम्परा से विचार की सामग्री का एक सम्भार मिलता है, जिसके बिना उसका विचार समृद्धि-हीन, अनगढ़ सा ही होगा, पर यह परम्परा उसे बांधती नहीं, स्वातन्त्र्य की सामर्थ्य देती है।

इस बात को हम मान भी लें तो भी परम्परा को ही मानने की आवश्यकता उभरती है, इतिहास को मानने की नहीं। इतिहास परम्परा का पर्याय नहीं है। उसका अपना विचार-तन्त्र, परम्पराओं को सन्दर्भ में डालता हुआ, उनकी तुलना करता हुआ, परम्पराओं को काल-क्रम में पिरोता है, परम्पराओं की काल-यात्रा का एक चित्र उभारता है : अकसर इस यात्रा को विकास या ह्रास की ओर उन्मुख देखता हुआ। इतिहास इस यात्रा का यह कोई प्रकट, निर्धारित लक्ष्य न भी बनाये तो भी एक तत्त्व उसके द्रष्टाभाव की जड़ में हाता ही है : वह परम्परा के व्यूह से (या व्यूहों से) अपने आप को बाहर ही रखता है। विचार का इतिहासकार किसी भी विचार-परम्परा का सहयात्री नहीं होता, वह अपनी अलग परम्परा साधता है, इतिहासकारों की परम्परा, जो विचार की परम्परा से अलग होती है। विगतोन्मुख होती है, आगतोन्मुख नहीं।

मैं समझता हूँ कि जैसे इतिहास परम्पराओं को आत्मसात् करके उन्हें अपने साँचों में, अपनी दृष्टि में ढालता है, वैसे ही परम्परा भी इतिहास को अपनी सामग्री का अंग बना सकती है। आज का इतिहास विगत का एक बहुत बड़ा पसारा खोलता है। मनुष्य की इतनी परम्परायें, यात्राओं के इतने पंथ, सम्भावनायें, पिछले किसी काल में बिसात की तरह बिछे हुए नहीं थे। कला में तो यह बात बहुत ही सुलक्ष्य है। पुरानी साधना में आज भी कई खुले हुए द्वार दिखते हैं जिनमें हम चाहें तो आज भी आगे बढ़ सकते हैं। काल में इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सम्भावनाओं का अवसान हो गया था : एक तरह का अवरोध, अन्त, सूख जाना या सुप्त हो जाना, जो हमारी सम्भावनाओं का भी होता ही रहता है पर किसी भी समर्थ परम्परा का और परम्परा में पले व्यक्ति का धर्म है सोते को जगाना, सूखे को सींचना। परम्परा ऐसा करती ही रही है : योरप के पुनर्जागरण को लीजिये। ग्रीस की सुप्त परम्परा को ही जगाया था उसने। ग्रीस का इतिहास नहीं रचा था। योरप की तत्कालीन इसाई इतिहास दृष्टि तो ग्रीस को 'अंधकार युग' में ही रखती थी।

4

अपनी बात पर आता हूँ। बहुत संक्षेप में कहने की कोशिश करूँगा।

ऊपर इतिहास पर इतने आक्षेप करने के बाद भी इन्कार नहीं कर सकता कि इस दृष्टि के प्रभाव से ही 'भारत में कला-चिन्तन का इतिहास' रचने का प्रयास साधा था। योरप की तरह यह इतिहास-दृष्टि हमारी इतनी घनिष्ठ हो चुकी है कि इसका खण्डन भी इसका इन्कार नहीं होता।

कला-मात्र के या कला समग्र के इतिहास की बात आरम्भ में ही कर चुका हूँ। कलाओं में भेद-अभेद का प्रश्न जो प्रारम्भ में उठाया, वह विचार के लिए कितना ही गुत्थिल हो, मेरे प्रयास का आरम्भ वह नहीं था। मैंने काम इसलिए उठाया था कि मुझे लगता रहा है हमने कलाओं में अपने चिन्तन के इतिहास को ठीक से देखा नहीं है। जितना देखा भी है कि साहित्य के क्षेत्र में ही देखा है, वह भी किसी पैने और तल-ग्राही विचार के इतिहास की तरह नहीं। संगीत, नृत्त में तो चिन्तन को किसी भी गहराई से उभारा ही नहीं गया है, जबकि इन पर चिन्तन हमारे यहाँ बहुत पुराना है। संगीत में तो वेदों तक जाता है और आज तक चला आता है। मुझे यह भी लगता रहा है कि साहित्य-भिन्न कलाओं के चिन्तन की उपेक्षा का एक बड़ा कारण है इन कलाओं के इतिहास ही की उपेक्षा। उपेक्षा क्यों? इसकी चर्चा कर आया हूँ। इतिहास का एक साध्य अगर आत्मबोध है तो हमें यह उपेक्षा करनी नहीं चाहिये। योरप की तरह हमारे यहाँ नृत्त-संगीत की परम्परा टूटी नहीं है — उलटे प्रतिभाशील रही है। योरप की तरह कला के इतिहास को द्वार बना कर हम अपनी संस्कृति के उत्स या मर्म तक पहुँचना चाहें तो नृत्त-संगीत का इतिहास इतिकर्त्तव्यता की कोटि में आ जाता है : योरप में विदग्ध नृत्त चाहे अब पनपा हो हमारा नृत्त ढाई हज़ार साल पुराना है; संगीत की व्यवस्थित, सुविचारित, स्वतन्त्र परम्परा और भी पुरानी है। परम्परा अविच्छिन्न बनी हुई है। मैंने संगीत का इतिहास साधा भी है। यह भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दिखाने के लिए कि इसमें नयापन, सर्जनशीलता बनी रही है। जिससे कि कुछ 'आधुनिक' विचारक इनकार करते हैं। संगीत के इतिहास को उभारने की चेष्टा में यह अभिज्ञता भी स्पष्ट उभरती है कि इसमें संगीत की पिछली कलाकृतियाँ को सामने नहीं रखा जा सकता। शास्त्र के विवरण और संगीत सम्बन्धी चिन्तन को ही आधार बनाया जा सकता है। फिर भी कर्म के इतिहास में जैसे कर्म को सामने रक्खे बिना भी विगत का सार्थक चित्र बनाया जा सकता है वैसा ही यहाँ भी सम्भव है।

मुझे लगता रहा है कि जैसे संस्कृति के किसी संदर्भ को समझने आंकने के लिए मनुष्य के कर्म की कई दिशाओं पर—अर्थनीति, राजनीति, समाजनीति, आदर्श, विचार, कला-व्यापार इन सब पर इनके परस्पर-भाव को देखते हुए ध्यान रखना पड़ता है वैसे ही संगीत, नृत्त और साहित्य, शिल्प किसी एक को समझने के लिए दूसरे में उतरना आवश्यक है। इन कलाओं के आत्म-बोध में (इनके शास्त्र और चिन्तन में) भी यह परस्पर भाव स्पष्ट है। यह आदर्श के रूप में आता है, और फिर इन कलाओं की कृतियों में साक्षात् देखा जा सकता है।

विशेष कर नाट्य का (और इसी से सम्बद्ध अभिनय-प्रधान नृत्य का) आत्मचेतन प्रभाव लगभग हर कला में स्पष्ट है। मैं नहीं समझता कि ऐसा जागरूक शास्त्र-निष्ठ-परस्पर-भाव पश्चिम के कला-संसार में आधुनिक काल के पहले उभर कर आता है। लगता है चीन में था।

भारत में कलाओं के परस्पर-भाव का एक बड़ा कारण है - नाट्य-शास्त्र। जैसा कि आरम्भ में ही कह आया हूँ, नाट्य बनता ही 'वृत्ति' से था, कला-संगम से। पश्चिम में नाट्यशास्त्र जैसा कोई लगभग सर्व कला-व्यापी शास्त्र नहीं है। 'लगभग' इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि शिल्प और चित्र नाट्यशास्त्र की परिधि से बाहर-से हैं।

'आधुनिक' काल के पहले पश्चिम के कला-चिन्तन में अरस्तू का बड़ा प्रभाव था। अगर अठाहरवीं सदी के इतिहासवादियों ने ग्रीस का गौरव उकेरते हुए प्रयोग-प्रधान कलाओं की उपेक्षा की तो इसका एक कारण अरस्तू भी हो सकते हैं। अरस्तू ने कला-मात्र के स्वरूप के बारे में एक बात कही थी जो पश्चिम में बद्धमूल रही है। अरस्तू ने कहा है कि कला अनुकरण है। कला मात्र अनुकरण है।

'आधुनिकता' का एक बड़ा दावा है कि इतिहास में पहली बार 'आधुनिक' युग ने कला में एक नई क्रांति को जन्म दिया : चित्र और मूर्तिकला का मुँह अनुकरण की ओर से मोड़ कर उन्हें अपने स्वतन्त्र रूप के प्रति सजग कर दिया

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और अननुकरण धर्मी ऐब्सट्रैक्ट, नॉन फिगरेटिव, कला की नई चेतना को व्यक्त करती सर्वथा नई कला को शरीर दिया। हम भी अपने आधुनिक पुरुषार्थों को पश्चिम से ही जोड़ते हैं। कला में भी। यहाँ तक कि हम अपने आधुनिक काल के इतिहास को पश्चिम के आधुनिक इतिहास के खिल के रूप में देखते हैं। — क्योंकि वहीं इसके बीज हैं। इसलिए अपना संगीत और नृत्त हमें आधुनिक नहीं दीखता। पश्चिम में इसके बीज नये आधुनिक कला में अनुकरण-विरोध को एक बड़ा जागरूक और सचेतन युग-परिवर्तन माना जाता है। कला के इतिहास में एक 'अभूतपूर्व' बात।

मैंने पाया कि दावा सच नहीं है। भारत में बहुत ही आत्मचेतन स्तर पर — नाट्यशास्त्र के कला-विमर्श में — बात आज से सवा दो नहीं तो दो हज़ार साल पहले उभर चुकी है। अभिनव गुप्त ने अनुकरण-विमुख, अपने-ही स्वतन्त्र-रूप-साधती कलाओं को स्वयं-प्रतिष्ठ की संज्ञा दी।

संगीत और नृत्त इन स्वयंप्रतिष्ठ कलाओं में प्रधान थे। और पते की बात यह भी है ये नाट्य से पुरानी कलायें थी। इस मामूली से अर्थ में 'पुरानी' नहीं थीं कि नाच-गाना तो हर संस्कृति में हमेशा ही होता है, भाषा जितना ही पुराना है। इतना ही होता तो कोई विशेष बात नहीं थी। परन्तु सच यह है कि संगीत और नृत्त दोनों, नाट्य के पहले ही विदग्ध मार्गी रूप ले चुके थे। इनके अपने विदग्ध, व्यवस्थित, सर्वांगीण शास्त्र भी बन चुके थे जो अपनी व्यापकता और सूक्ष्म समीक्षा में अब भी पैठ के हैं, आज भी भारत में नृत्त-संगीत के शास्त्रीय आधार हैं। संगीत और नृत्त-मात्र को (कहीं का ही क्यों न हो) शास्त्र की भूमिका देने में समर्थ हैं।

संगीत और नृत्त आत्मचेतन रूप से नॉन-फिगरेटिव थे। नाट्य इनके बाद की कला है और भरत को यह बोध था। वे जानते थे कि नाट्य का अनुकरण स्वभाव—जो नाट्य का प्राण है, उसी का ये पुरानी कलायें निराकरण करती हैं।

तो भरत की नाट्य-सृष्टि को भी हम क्रांति कह सकते हैं। इस क्रांति का मुँह 'आधुनिकता' की क्रांति से विल्कुल उलटी तरफ था। स्वयंप्रतिष्ठ से अनुकरण की ओर : नॉन-फिगरेटिव से फिगरेटिव की ओर। जैसे आधुनिक कलाकारों ने फिगरेटि से नॉन फिगरेटिव की ओर बढ़ने के रास्ते निकाले वैसे ही भरत स्वयंप्रतिष्ठ को अनुकरण-धर्मी बनाने के रास्ते निकालते हैं।

इस सिलसिले में भरत एक मूलभूत प्रश्न खड़ा करते हैं। बड़ा आधुनिक प्रश्न है, चाहे उठाने का तरीका आधुनिक न हो। नृत्त, संगीत के जिन ताण्डव और गान्धर्व रूपों का भरत नाट्य-रूपान्तर साधते हैं, उनका विस्तार से वर्णन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी करते हैं। इनके पुराने शास्त्र उपलब्ध थे, उन्हीं के आधार पर इन कलाओं का वर्णन करते हैं, उन्हीं शास्त्रों के शब्दों में और उसी प्रणाली में। आज हम ताण्डव नृत्त का जो पुराना शास्त्र उपलब्ध है वह नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध है। स्वतन्त्र शास्त्र लुप्त हो गये हैं। गान्धर्व का एक स्वतन्त्र शास्त्र उपलब्ध है. 'दत्तिलम्' (जिस पर मैंने काम किया है)।

भरत बताते नहीं कि ताण्डव और गान्धर्व के स्वतन्त्र शास्त्र भी हैं। उनकी शैली पुराणों की है और स्वकण्ठ से उनका दावा यह है कि सभी कलायें — नृत्त और संगीत भी — नाट्य में समाविष्ट ही नहीं है, नाट्य से उत्पन्न हुई हैं। पर भरत के ही कथनों से यह भी स्पष्ट है कि उनका दावा उनकी पौराणिक भंगी का ही अंग है। पुराने शास्त्रकारों, आचार्यों के नाम वे लेते रहते हैं। पुराणों की तरह नाट्यशास्त्र एक ऋषिमण्डली को सुनाया जाता है, जहाँ भरत शास्त्र के वक्ता है, लेखक नहीं। श्रोता ऋषि प्रश्न भी करते चलते हैं जैसा पुराणों में होता है।

नाट्यशास्त्र के चौथे अध्याय में ताण्डव का लक्षण-वर्णन है। एक कहानी के साथ। कहानी यह है कि भरत ने एक नाट्य की रचना की और उसे शिव को दिखाया। शिव को नाट्य अच्छा लगा पर अधूरा भी लगा। शिव ने कहा, मैं संध्या को नृत्त किया करता हूँ उस नृत्त को तुम अपने नाट्य में शामिल कर लो। शिव ने तण्डु को आदेश दिया कि तुम भरत को मेरा नृत्त सिखाओ। अध्याय में आगे फिर तण्डु कथित ताण्डव-लक्षण आता है। लक्षण से प्रकट है कि ताण्डव स्वयंप्रतिष्ठ था, नाट्य की तरह अनुकरण-प्राण नहीं, जैसा कि नाट्य को भरत अपने ग्रंथ के आरम्भ में, पहले अध्याय में, ही बता चुके थे।

यहाँ सुननेवाले ऋषि कुछ मार्मिक प्रश्न करते हैं। ऋषि कहते हैं नृत्त का नाट्य में समावेश हो ही कैसे सकता है क्योंकि नृत्त में अर्थ ही नहीं होता (जैसा कि लोक का अनुकरण होने के कारण नाट्य में होता है)? फिर वे पूछते हैं कि नृत्त का अपना 'अर्थ' (अपना उद्देश्य) क्या है?

पहले प्रश्न का उत्तर भरत का पूरा शास्त्र है, जहाँ वे दिखाते हैं कि नृत्त का स्वतन्त्र 'स्वर' कैसे नाट्य में 'निमज्जित' किया जा सकता है। दूसरे के उत्तर में भरत कहते हैं कि नृत्त का कोई नृत्त-बाहर अर्थ नहीं होता जैसा कि नाट्य का होता है। नृत्त 'शोभा' को जन्म देता है। प्रकट है कि 'शोभा', 'रस' से भिन्न है. यह भी संकेत स्पष्ट है कि यहाँ स्वयं-प्रतिष्ठ कलाओं की अपनी अलग व्यंजन की बात हो रही है, जिसे रस में नहीं समेटा जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभिनव भी अपनी व्याख्या में रस और शेभा के भेद पर यथोचित ध्यान देते हैं संक्षेप में अभिनव की व्याख्या से उभरता है कि शोभा और रस के बीच जो भेद है उसे तत्त्व-भेद की आख्या दी जा सकती है।

जैसा कि सुविदित है, रस की निष्पत्ति के लिए मनुष्य के किसी व्यवहार-सिद्ध भाव की, जैसे भय, रति, जुगुप्सा, उत्साह ..., इनकी कला के माध्यम से ऐसी प्रस्तुति साधी जाती है कि भाव अपनी आठ-पहरी व्यवहार-भूमि से उठ कर एक दूसरी स्वतन्त्रतर भूमि पर आ जाये। इसी में नाट्य का नाट्यत्व है (और व्यापक दृष्टि से कला का कलात्व)। इसके लिए नाट्य लोक को आधार बनाते हुए — लोक का अनुकरण कहते हुए — भावों को अपनी स्वतन्त्र योजना से प्रस्तुत करता है। इसी बात को कहने के लिये भरत का यह वाक्य है कि विभाव अनुभाव और संचारी भावों से रस की निष्पत्ति होती है। तात्पर्य यह कि जब नाट्य की अपनी कल्पना और वृत्ति-योजना के माध्यम से मनुष्य के किसी भाव को मंच पर पात्रों, चरितों, उचित घटना-परिवेश (विभाव) और कायिक, वाचिक अभिनय के सुष्ठु कौशल द्वारा जगाया जाता है — व्यवहार के घेरे से निकाल कर निष्पन्न किया जाता है — तो भाव व्यवहार की हलचल से बाहर आ जाता है। उसमें एक भीतर की दृष्टि, आत्मचेतना का एक नया आयाम, आ जाता है। भाव भाव रहते हुए भी अपना द्रष्टा हो जाता है। सांख्य की पदावली में कहें तो उसका आवेग उद्वेग में पला, रजस्-तमस् स्वभाव सत्त्व में परिणमित हो जाता है। मेरा या किसी और का भाव नहीं रहता, बस भाव हो जाता है — साधरणीकृत और अपने स्वतन्त्र स्पन्द में आस्वाद्य। यही लोक सिद्ध रति का श्रृंगार हो जाना है, या जुगुप्सा का बीभत्स और उत्साह का वीर 'रस' हो जाना है। नाट्य के माध्यम से लौकिक भाव लोकोत्तर हो जाता है। इस लोकोत्तरत्व में बुद्धि के विकल्पों के सदृश ही एक 'प्रत्यङ्मुखता' होती है : चेतना अपनी ओर मुड़ती है जैसे कि विचार में। अन्तर यह है कि रस आस्वाद्य होता है, क्योंकि भावन-प्राण है, वितर्क-प्राण नहीं।

रस को यों देखें तो उभर ही आता है कि किसी भी अनुकरण-धर्मी कला में रस-निष्पत्ति की बात को सार्थक किया जा सकता है। भेद यही होगा कि चित्र, मूर्तिकला, साहित्य आदि में विभाव, अनुभाव, संचारी की प्रस्तुति उन कलाओं की अपनी सामग्री, अपनी सम्भावना के आधार पर होगी।

नृत्त में लोक की उपस्थिति ही नहीं होती। इस कारण विभाव-अनुभाव भी नहीं होते। अभिनव कहते हैं कि नृत्त में शरीर के अंग-विक्षेप-विलास और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उसीकी योजना-वर्तना के माध्यम से सीधे ही (अनन्तरीयक भाव से) एक चमत्कार का अनुभव निष्पन्न होता है। यही शोभा है।

यों शोभा तत्त्वतः रस से भिन्न है। परवर्ती रस-चिन्तन में अभिनव की बड़ी भूमिका है। पर हम पाते हैं कि उन्होंने कलाओं के भीतर स्वयंप्रतिष्ठ और अनुकरणधर्मी के भेद को परखते हुए भी अपने कला-चिन्तन में रस पर ही ज़ोर दिया। शोभा के स्वतन्त्र, रस-भिन्न तत्त्व की चर्चा को आगे नहीं उभारा। जहाँ तक मैं अवगत हूँ, किसी और चिन्तक ने भी बात को आगे नहीं बढ़ाया है।

आगे के रस-चिन्तन में रस को एक सर्व-कला-व्यापी प्रसार देने की महती चेष्टा है पर उसकी अनुकरण-धर्मिता का निराकरण नहीं किया जाता। रस को भारत के 'विभावानुभावसंचारीसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' इस सूत्र से अलग नहीं किया जाता। शोभा पर कोई मनन ही नहीं किया जाता, जिसके भिन्न चमत्कार की बात अभिनव स्वयं कर चुके थे।

5

जैसा कि कह चुका हूँ, मैंने रस प्रत्यय को अपने कला-चिन्तन के इतिहास विचार का एक सर्वतोग्राही प्रत्यय बनाया था। पर विचार करते हुए संवेदना को समझने का मेरा अपना ऊहापोह ऊपर आ गया। इतिहास और पिछला विचार गौण हो गया।

संवेदना को समझने के लिए रस की धारणा मुझे सक्षम नहीं लगती। एक तो उसमें आस्वाद्यता की बात कुछ अधिक मुखर हो कर आगे आती है। जिसमें 'भोग' की एक स्थूल सी ध्वनि है। हम भोक्तृत्व को रजस् तमस् के स्थूल से हटा कर भोक्तृत्व के सत्वस्थ होने की बात करें तो भी मुझे कमज़ोर ही लगती है। संवेदना की बात गहराई में भोक्तृत्व की है ही नहीं।

मुझे लगता है कि संवेदना में पैठने के लिए रस से हट कर चमत्कृति की बात की जा सकती है। हमने देखा कि शोभा की मीमांसा करते हुए अभिनव भी रस की नहीं चमत्कृति की बात करते हैं। रस के साथ भी चमत्कृति की बात की जाती है। चमत्कृति को रस और शोभा दोनों पर व्याप्त देखा जा सकता है। पण्डितराज जगन्नाथ काव्य का लक्षण करने बैठते हैं तो रस में अव्याप्ति देखते हैं। ऐसा भी काव्य साधा जाता है जहाँ रस की बात करना उचित नहीं जान पड़ता। जैसे प्रकृति-काव्य। व्यापक प्रत्यय ढूँढते हुए जगन्नाथ भी चमत्कार की बात करते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक और भी बात है। संवेदना को कला या कला-बोध तक सीमित रखना भी उचित नहीं। उसका क्षेत्र व्यापक है। जगन्नाथ ने प्रकृति काव्य की बात की, संवेदना का क्षेत्र प्रकृति-काव्य ही नहीं प्रकृति भी है, जिसका बोध कला-बोध का सधर्मी लगता ही है।

मैंने संवेदना में भेद की बात को बढ़ाते हुए बात शुरू की थी। भेद से इन्कार नहीं किया जा सकता। पर एक-क्षेत्र के व्यापकत्व बोध से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। चिन्तन में विचार यहाँ जिस अभेद की ओर बढ़ रहा है, वह भी विचार की स्वभाव-गति ही लगती है।

जो भी हो, चमत्कृति का एक विवेचन करता हूँ। इस धारणा का एक ऊह आपके सामने रखता हूँ। पकड़ के लिए विचार का बढ़ता हाथ कह सकते हैं। ऊह के साथ अपोह भी आवश्यक है। उसमें यहाँ नहीं जाऊंगा। बहुत संक्षेप में धारणा आपके सामने रक्खूँगा। अपोह तो आप भी करेंगे ही।

चमत्कृति को चेतना का 'उन्मेष' कह सकते हैं। एक प्रकाश का बोध। 'उन्मेष' में आंख के ऊपर की ओर खुलने का भाव है, कुछ नहीं दिखा था, उसके सहसा दिख जाने का। हमारी साधारण आत्मचेतना में एक वलय होता है, जैसे एक बाड़ सी होती है—कुछ लोग तो आत्म-चेतना के कारावास और घुटन की भी बात करते हैं। पर आत्म-चेतना का अपने परे एक क्षितिज भी होता है, जिसका संकेत हमें संवेदना के उन्मेष में मिलता है। इसे स्फोट भी कह सकते हैं, सहसा, सविस्मय उभरने के ही अर्थ में ही नहीं, एक अवयवी-बोध के अर्थ में भी। जिस प्रकाश को उन्मेष कर रहा हूँ, वह ज्ञान के अर्थ में ही प्रकाश होता है। ज्ञान की सी जागृति होती है उसमें; उसी का सा अवयवी बोध जागता है इस बोध में। एक अध्यवसाय का भाव भी होता है, कि कुछ है जो सत्य है, सार्थक है। 'मिथ्या' है, भ्रान्त है, यह बोध नहीं होता। पर यह बोध बुद्धिमूलक नहीं होता। बुद्धि की दृष्टि भी अवयवी देखती है, पर अवयवों में बांट बांट कर देखती है। संवेदना के उन्मेष में अवयवी मानो निरवय ही उद्भासित होता है, इसलिए एक भूमा का सा भाव लिए होता है; अपने परे एक विराट का इंगित वहन करता है जो मानो उसी में कहीं निहित है। अचम्भा नहीं कि रस की बात कला में ही नहीं, भक्ति और अध्यात्म में भी की गई है।

रस की ही तरह उन्मेष का स्फुरण कई रूप, कई प्रकार, और प्रकार ही नहीं कई स्तर में उभारता जान पड़ता है। समझने के लिए 'रसना-व्यापार' की धारणा को लिया जा सकता है। अभिनव ने इस व्यापार को संवेदना के साथ जोड़ते हुए इसे कारक-व्यापार से अलग किया है। कारक-व्यापार और प्रमाण-व्यापार दोनों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

को ही चेतना ही के व्यापारों के रूप में देखते हुए इन्हें रसना-व्यापार से यों भिन्न देखा जा सकता है। आत्मचेतना को ग्राह्य-ग्राहक के युगल रूप में देखें। प्रमाण-व्यापार में ग्राहक, ग्राह्य को विषय के रूप में जानने के लिए उससे हटता है, द्रष्टा, परीक्षक होता है। भिन्न ग्राह्यों के सम्वन्धों को देखता है, उनके कार्य-कारण-भावों में पैठता है। कारक-व्यापार को हम इन्हीं कार्य-कारण सम्वन्धों के कर्म में उपयोग की वृत्ति कह सकते हैं। आत्मचेतन ग्राहक भिन्न ग्राह्यों के कार्य-कारण सम्वन्धों को काम में लाता है। ग्राहकता की एक भूमि से दूसरी भूमि पर पीछे हटते हुए ग्राहक-चेतना ग्राह्य और ग्राहक के भी परस्पर कार्यकारण भाव को कुछ करने का उपाय वनाती है। जैसे किसी साधना में। इन व्यापारों में ग्राह्य-ग्राहक भाव अविच्छिन्न भाव से साथ रहते हुए भी सही अर्थ में अविनाभावेन युगनद्ध नहीं होता। इनका भेद ही प्रधान रहता है, रसना-व्यापार में यह भेद मिटने की ओर बढ़ता है : शोभा ग्राह्य में होती है, रस ग्राहक में। पर चमत्कृति का उन्मेष दोनों में एक सा होता है। इस उन्मेष में एक तन्मयता होती है। रस में तन्मयता ग्राहक की ओर उन्मुख होती है। शोभा में ग्राह्य की ओर। पर है यह तन्मयता ग्राह्य और ग्राहक के एकात्म होने का ही लक्षण।

तन्मयता को चमत्कृति का एक व्यावर्तक लक्षण कह सकते हैं। पर यह मोह नहीं, जागरूक तन्मयता होती है। बात विरोधाभास सी लग सकती है पर चमत्कृति में तन्मयता के साथ एक स्वातन्त्र्य का बोध साथ ही जागता रहता है, क्योंकि चमत्कृति आत्मचेतना का व्यापार है, जो ग्राह्य-ग्राहक भाव से ऊपर भी जागती रहती है।

चमत्कृति को एक गहरे अर्थ में शायद आत्मचेतना का बीज भी कह सकते हैं—चेतना मात्र में जहाँ आत्मचेतना नहीं भी होती, वहां भी एक प्रयोजन तो होता ही है। हम कल्पना कर सकते हैं कि आत्मचेतना चेतना में ही कभी एक स्फुरण की तरह जागी और उसने चेतना को अपने को देखने की आंख दी, ग्राह्य-ग्राहक का भेद जगाया। आत्मचेतना के साथ चेतना में प्रश्न का भी उन्मेष होता है, धर्म-बोध का भी। यह चेतना मात्र की प्रयोजनमयता में संभव नहीं।

सृजन का बीज है चमत्कृति। क्योंकि यह गतानुगतिकता से, रूढि की जड़ता से, निकालती है। ज्ञान और कर्म में भी इसका उन्मेष, इसकी प्रतिभा, होती है। प्रश्न होगा कि अगर उन्मेष को हम इतना व्यापक रूप दे दें तो उसे व्यावर्तित, अवच्छिन्न कैसे करेंगे? कर्म और ज्ञान से अलग कैसे करेंगे? फिर कला के साथ उसका सम्बन्ध क्या है? हम मान भी लें कि ज्ञान, कर्म, विचार इनमें भी उन्मेष

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की चमत्कृति कौंधती है तो फिर हमारी प्रवृत्ति मात्र क्या कला के क्षेत्र में नहीं आ जायेगी?

एक अर्थ में ज्ञान और कर्म में भी चमत्कृति की बात ठीक ही है और इसका बोध भी हमें होता है — हम ज्ञान और कर्म के क्षेत्रों में भी 'शैली' की बात करते हैं। प्रकाश के स्फुरण की बात करते हैं — ऐसा उन्मेष जो बँधे-बँधाये नियमों और रुढ़ियों से हमें मुक्त करता है।

कला का अपना विशेष गुण-धर्म ढूंढें तो कह सकते हैं कि कला चमत्कृति के स्वरूप को, उसके अखण्ड से अवयवीभाव को ही व्यंजित करने को दिशा देती है। साकार करना चाहती है। उन्मेष की तन्मयता और स्वातन्त्र्य रखते हुए। कला स्वाच्छन्द्य साधती है। अपने माध्यम की गतानुगतिक अर्थक्रिया को चेतना की प्रयोजनामात्रता से निकाल कर उन्मेष की गति और दीप्ति देती है। व्यंजना का आकाश देती है।

जानता हूँ बात प्रश्नों की झड़ी उसकाती है; उखड़ी अधूरी डगमग सी लगती है। पर इसे अभी यहीं छोड़ता हूँ।

ए-36-37, विश्वामित्र मार्ग,
श्याम नगर, जयपुर-302006

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ईश्वर के अस्तित्व का साम्प्रत्ययिक प्रमाण

नारायण शास्त्री द्राविड़

कुछ समय पूर्व केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अध्यापक तथा विश्व के महान् ज्योतिर्वित् स्टिफेन हॉकिंग भारत में आधुनिक विज्ञान की सुपर स्ट्रिंग थियरी की चर्चा के लिए समायोजित गोष्ठी में सम्मिलित होने आये थे। एक सामान्य चर्चा के प्रसंग में उन्हें एक व्यक्ति ने पूछा, 'क्या आप ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं?' इस पर उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं! मैं ईश्वर की सत्ता नहीं स्वीकार करता। प्राकृतिक नियम—एक या अनेक—ही ईश्वर हैं जो विश्व का नियंत्रण करते हैं।" एक महान् वैज्ञानिक का यह कथन विचारणीय है। क्या प्रकृति कोई सत्ता है जो विश्व या सारी वैश्विक प्रक्रियाओं का साक्षात् या परंपरया नियंत्रण करती है? और जिन नियमों के द्वारा प्रकृति यह नियंत्रण करती है वे यदि अनेक हैं तो उनमें सामंजस्य कैसे स्थापित होता है? यदि प्रकृति ही यह सामंजस्य स्थापित करती है तो क्या वह एक सर्वातिशायी नियम के द्वारा यह सामंजस्य स्थापित करती है? इन विविध उपप्रश्नों का उत्तर हॉकिंग महोदय ने दिया नहीं क्योंकि मूल प्रश्न की चर्चा को आगे बढ़ाया नहीं गया। लेकिन चूँकि प्राय: सभी वैज्ञानिक ईश्वर की सत्ता सम्बन्धी प्रश्न का उक्त उत्तर के जैसा ही उत्तर दिया करते हैं अत: इस उत्तर की समीक्षा कर विज्ञान की इस सम्बन्ध में क्या भूमिका है यह समझा जा सकता है। जिस प्रकार के शब्दों में हॉकिंग महोदय ने यह भूमिका प्रकट की है वे नितान्त भ्रामक प्रतीत होते हैं। यदि ईश्वर की सत्ता अस्वीकार्य है तो प्रकृति नामक किसी विश्वव्यापी तत्त्व की सत्ता कैसे स्वीकार्य हो सकती है? यह तथाकथित तत्त्व और इसके नियम इनका सम्बन्ध किस प्रकार का होगा (यदि ऐसा कोई तत्त्व हो तो)? ऐसे अवांतर (संभाव्य) प्रश्नों का विज्ञानसम्मत उत्तर संभवत: यही होगा कि प्रकृति कोई स्वतंत्र तत्त्व या सत्ता नहीं है जो नियम या नियमों का निर्माण कर उन्हें विश्व पर आरोपित करती है। प्रकृति विश्व का या वैश्विक प्रक्रियाओं का ही स्वभाव है जिसे प्राकृतिक कहे जाने वाले नियम—जिन्हें वैज्ञानिक लोग खोज निकालते हैं—व्यक्त करते हैं। यदि एक ही नियम समग्र विश्व की क्रिया-प्रक्रियाओं को समझने में सहायक हो—चोटी के वैज्ञानिक आज ऐसे एक नियम की खोज में जुटे हुए हैं—तो उसे ही एकमात्र प्राकृतिक नियम माना जा सकता है। इस नियम को विश्व की आंतरिक रचना से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि तब विश्व

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और उसकी प्रकृति को एक-दूसरे से अलग मानना होगा। दूसरे शब्दों में, उक्त कथन का तात्पर्य यह होगा कि वैश्विक प्रक्रियाएँ पूर्णतया स्वनियंत्रित हैं। उनका नियंत्रण विश्व से बहिर्भूत तथा विश्वातिशायी किसी सत्ता के द्वारा नहीं होता। वैज्ञानिक लोग इस निष्कर्ष को दो सदियों से अपनाये हुए हैं लेकिन इसके सकारात्मक पक्ष की ओर वे विशेष प्रगति नहीं कर पाये हैं। समग्र विश्व को एक सूत्र में ग्रथित कर सकने वाले, सारे विश्व तथा अणु-विश्व की गतिविधियों का यथावत् वर्णन कर सकने वाले—सर्वसमावेशी नियम, जिसे यूनीफाइड फील्ड थ्यूरी के नाम से निर्दिष्ट किया जाता है, की खोज विगत 50-60 वर्षों से जारी है। वैसे तो जिन्हें 'कॉस्मिक कॉंस्टेंट' कहा जाता है, अर्थात् वैश्विक प्रक्रिया के नियामक तथा अपरिवर्तनीय माने जाने वाले तत्त्व, उनका निर्धारण लगभग हो चुका है, प्रकाश की गति, जो प्रति सैकेंड 3 लाख कि.मी. है और जिसका 'संकेत' 'e' है, परमाणु की गति-स्थिति का अनुपात, जिसका संकेत 'h' है, ऐसे लगभग दस स्थिर वैश्विक तत्त्व निश्चित किये जा चुके हैं। लेकिन इन सबका समन्वयक तत्त्व, जो उक्त तीनों प्रकार की वैश्विक प्रक्रियाओं का समान रूप से निर्धारण कर सकता हो, अभी अज्ञात ही है। किन्तु वह तत्त्व जो भी हो वह विश्व-बहिर्भूत न होकर विश्वांतर्गत या विश्व का घटक ही होना चाहिये, इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों को संदेह नहीं है।

इस संदर्भ में भारतीय दर्शन की एक प्रकृतिवादी शाखा का—जो 'सांख्य' नाम से पहचानी जाती है—एक विहंगमावलोकन विशेष बोधप्रद हो सकता है। सांख्य विश्व के मूलस्वरूप को ही 'प्रकृति' इस संज्ञा से पहचानता है। इस संज्ञा के प्रयोग से यह सूचित होता है कि सभी प्रकार की वैश्विक प्रक्रियाएं—सूक्ष्म, स्थूल तथा अतिस्थूल—नितान्त स्वाभाविक हैं। उनके घटित होने के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं है। विश्व पूर्णतया स्वचालित है क्योंकि चलनशीलता या परिवर्तनशीलता उसका स्वभाव ही है। यही नहीं, विभिन्न प्रकार के परिवर्तन भी प्राकृत विश्व का स्वभाव हैं। कुछ परिवर्तन विश्व को विकास की दिशा में ले जाते हैं तो कुछ ह्रास की दिशा में ले जाते हैं। विकास आत्मा के लिए बंधनकारक होता है जबकि ह्रास उसके मोक्ष का कारण होता है। विश्व के द्वारा आत्मा के बंध या मोक्ष की बात विज्ञान के लिए कोई अर्थ नहीं रखती क्योंकि आत्मा की ही सत्ता विज्ञान को अमान्य है। किन्तु अणुभौतिकी में अब अणुओं की गति-स्थिति तथा परस्पर सम्बन्ध के निर्धारण के लिए अणुओं के (अर्थात् उनकी गतिविधियों के) निरीक्षण के परिणाम का विचार करना अनिवार्य प्रतीत होता है। द्रष्टा या उसकी दर्शनांतर्गत चेतना को अलग थलग रखकर अणुओं के सम्बन्ध में सही जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती, यह बात अब अणु-भौतिकी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के विशेषज्ञ मानने लगे हैं। 'द्रष्ट्र समावेशी विश्व' की धारणा अब वैज्ञानिकों को पूर्णतया मान्य हो चुकी है। इसका मतलब यह है कि द्रष्ट्र-निरपेक्ष विश्व न स्वयंपूर्ण है न वह एक यथावत् ज्ञेय सत्य है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यदि हम सांख्य-प्रतिपादित मूल तत्त्वों के स्वरूप का विचार करें तो हमें प्रतीत होगा कि शुद्ध प्रकृतिवादी होते हुए भी इस दर्शन ने द्रष्ट्र-समावेशी, या अधिक सही शब्दों में दर्शन-समावेशी विश्व की धारणा मूलत: ही अपना ली है। महत् तत्त्व को, जो बुद्धि का ही विराट् रूप है, प्रकृति का प्रथम व्यक्त स्वरूप सांख्य ने माना है। अर्थात् जड़ विश्व में बुद्धि व्याप्त है और इसी विश्वांतर्गत बुद्धि के कारण आत्मा या विश्व के साथ सम्बन्ध घटित होता है। यह बात अलग है कि आत्मरूप चेतना विश्वांतर्गत बुद्धि से भिन्न प्रकार की है। फिर भी दोनों में आंशिक साम्य है जिस कारण आत्मा में वैश्विक बातों का आरोपण हो पाता है।

सांख्य विश्वांतर्गत महत्-रूप चेतना तथा आत्म-रूप चेतना में पूर्ण साम्य नहीं मानता क्योंकि वह विश्व और आत्मा के सम्बन्ध या असम्बन्ध को यथावत् नहीं समझता। यह कहना कि आत्मा महत् में प्रतिबिम्बित होकर उसकी वृत्तियों को अपने में आरोपित कर लेती है, यह आत्मा को निरर्थक कहने जैसा होगा। अद्वैत भी इस प्रकार के आरोपण की बात करता है लेकिन उसके अनुसार आरोपित वृत्तियाँ मूलत: असत् ही होती हैं, आत्मा ही परम चेतना के रूप में सत् होता है। विश्व और विश्व को जानने वाली या उसकी अधिष्ठानभूत चेतना ये दोनों अद्वैत मतानुसार एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जो कुछ है वह आत्मचेतना ही है। अन्य प्रतीयमान सब इस चेतना का आभासमात्र है। अत: विश्वान्तर्गत तथा उसके नियामक तत्त्व एवं विश्व को समझने के लिए आवश्यक चेतना के घटक तत्त्व में भेद मानने की आवश्यकता अद्वैत नहीं महसूस करता।

अद्वैत के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने के पूर्व विशिष्टाद्वैत के ईश्वर विषयक सिद्धान्त पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा। विशिष्टाद्वैत ईश्वर को विश्व तथा आत्मा से भिन्न नहीं मानता। आत्मा और विश्व ईश्वर के गुण ही हैं। जैसे गुणी द्रव्य गुण से (पूर्णतया) भिन्न नहीं होता वैसे ही ईश्वर भी आत्मा और विश्व से भिन्न नहीं होता। जैसा एक उपनिषत् में कहा गया है, ईश्वर विश्वान्तर्यामी तथा विश्व और आत्मा का एक प्रकार से नियंता है। इसलिए अद्वैत की परिभाषा अपनाकर ईश्वर को विश्वाधिष्ठान कहना विशिष्टाद्वैत मतानुसार सही नहीं हांगा। अधिष्ठान की सत्ता अधिष्ठेय की सत्ता की अपेक्षा नहीं रखती जबकि अधिष्ठेय की सत्ता पूर्णतया अधिष्ठान की सत्ता पर निर्भर करती है। ईश्वर और विश्व का सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं है। ईश्वर विश्व की प्रत्येक वस्तु में समाविष्ट है और एक तरह से उस की सत्ता ही विश्व की भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सत्ता है, जैसे गुणों की सत्ता उनके आधारभूत द्रव्य की ही सत्ता होती है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर विशिष्टाद्वैत के आचार्य रामानुज कहते हैं 'सर्वे शब्दा: परमात्म वाचका:।' अर्थात् प्रत्येक वस्तु के वाचक पद उस वस्तु में समाविष्ट तथा उसकी आधारभूत परमात्म सत्ता के ही वाचक होते हैं।

अब तक विश्व तथा आत्मा सम्बन्धी तीन विचार-सरणियों (वैज्ञानिक, सांख्यीय तथा विशिष्टाद्वैतीय) की जो संक्षिप्त चर्चा की गयी उसका उद्देश्य विश्व के स्वनियंत्रित या स्वचालित स्वरूप से सम्बन्धित तीन प्रकार की विचारधाराओं का निर्देश करना है। इन तीन विचारधाराओं के अनुसार विश्व स्वनियंत्रित ही है किन्तु यह स्वनियंत्रण एक-जैसा नहीं है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर ही विश्व का नियंता या संचालक है लेकिन वह विश्वांतर्गत रह कर ही ऐसा करता है। यों भी कह सकते हैं कि ईश्वरीय चेतना से व्याप्त विश्व स्वयं अपना नियंत्रण करता है। सांख्य मत में चेतना महत् तत्त्व के रूप में जड़ विश्व में समाविष्ट होते हुए भी एक प्रकार से विश्व की मौलिक जड़ता से अभिभूत होती है। अत: इस चेतना का विश्व के आविर्भाव-तिरोभाव की प्रक्रियाओं के संचालन में कोई विशेष सहयोग नहीं होता। जड़ विश्व सांख्यमतानुसार स्वत: क्रियाशील होने से उसे किसी चेतन संचालक की आवश्यकता नहीं होती। पुरुषों का सहयोग वैश्विक प्रक्रिया के लिए एक लक्ष्य मात्र (टीलियोलोजीकल काज़) प्रस्तुत करने में ही सीमित रहता है। इस पर से यह कह सकते हैं कि सांख्य आधुनिक भौतिकी का ब्रह्मांड-सिद्धान्त होने का दावा कर सकता है। द्रष्टा के या निरीक्षक के रूप में पुरुष (या वैज्ञानिक) विश्व की रचना में अनिवार्यतया सहभागी होता है यह बात तो विज्ञान की अद्यतन चेतना-समावेशी विश्व की धारणा में पूर्वाभ्युपगत ही है। फिर भी चेतना को विश्व में पूर्णतया समाविष्ट मानने की अवस्था तक विज्ञान अभी नहीं पहुँचा है। विज्ञान अब तक यह नहीं समझ पाया है कि द्रष्टा वैज्ञानिक के निरीक्षण की पूरी पकड़ में न आने वाले विश्व के मूलभूत अणु स्वयं चेतन होते हुए अपनी चेतन सत्ता को समग्र विश्व में प्रसारित करते हैं या वैज्ञानिक द्रष्टा की ही चेतना इन अणुओं में समाहित होकर प्रकट होती है। यदि वैज्ञानिक की ही यह चेतना हो तो वह हर वैज्ञानिक के साथ बदलती जायेगी जिससे अणुओं की गति-स्थिति आदि का निरूपण करने वाले अणु-भौतिकी के समीकरण व्यक्तिश: अलग-अलग हो जायेंगे। यदि हम मान लें कि निकट भविष्य में विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँच जायेगा कि अणु पूर्ण चेतन हैं और इनके निरीक्षक भी पूर्ण चेतन हैं तथा इन विभिन्न चेतनों की चेतनाओं में एक प्रकार का सातत्य है, तो चेतना की इन समस्त विभिन्न इकाइयों में सामंजस्य प्रस्थापित करने वाली एक वैश्विक चेतना की सत्ता मानना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अनिवार्य हो जायगा। विश्वांतर्गत चेतना अनंत विभिन्न इकाइयों में बंटी होने पर भी उनमें जो सुसूत्रता अनुभव-गोचर होती है और जिसका अस्तित्व वैज्ञानिक पूर्णतया स्वीकार करते हैं, उसके स्पष्टीकरणार्थ एक विश्वातिशायी चेतना की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। यह निष्कर्ष लाइबनिज़ के चिद्बिन्दुवाद (मोनोडोलोजी) के निष्कर्ष से तथा विशिष्टाद्वैत के विश्वान्तर्यामी परमेश्वर की व्यापक सत्ता के निष्कर्ष से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। लाइबनिज़ के विचारानुसार विश्व के घटक या मूल आधारभूत पदार्थ चेतनाणु-रूप हैं। इन अणुओं की चेतना सीमित है। लेकिन इनका परस्पर समायोजन करने वाले परमात्मा की चेतना का विस्तार अनंत है। लाइबनिज़ यह स्पष्टतया नहीं कहता कि परमात्मचेतना (चिद्बिन्दुओं का चिद्बिन्दु—मोनाड आफ मोनाड्ज़) ही अनंत चिद्बिन्दुओं में विभक्त होकर प्रकट होती है। किन्तु यह बात विशष्टाद्वैत ने स्पष्टतया कही है।

अद्वैत वेदान्त भी विश्व या विश्वान्तर्गत वस्तुमात्र को मूलभूत ब्रह्म-चैतन्य की विभिन्न उपाधियों या परिच्छेदक धर्मों के रूप में वर्णित करता है। यही नहीं, अद्वैत जीव को भी अन्तःकरणरूप उपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य रूप ही समझता है। किसी स्थूल या सूक्ष्म-अणुरूप भी वस्तु का ज्ञान (वह वैज्ञानिक प्रयोगाधारित ही क्यों न हो) परिच्छिन्न चैतन्य की अभिन्नता की अनुभूति ही है, ऐसा वेदान्त परिभाषाकार कहते हैं। इस पर से कोई अद्वैत और विशिष्टाद्वैत की परमसत्ता सम्बन्धी धारणाओं को एक जैसा ही समझ सकता है। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। अद्वैत विश्व और जीव को परम चैतन्य की उपाधियाँ कहकर उनकी सत्ता को सकारने के बदले नकारता है जबकि विशिष्टाद्वैत इन तथाकथित उपाधियों को ईश्वर के गुण मानकर उनकी अनिवार्य विशेषणात्मक सत्ता को साग्रह प्रस्थापित करता है। सजीव विकासशील स्थूल विश्व के रूप में ईश्वर सृष्टि-प्रक्रिया में सहभागी होता है ऐसी इस दर्शन की मान्यता है। अद्वैत ऐसा कुछ नहीं मानता। अद्वैत की दार्शनिक भूमिका को सरलतया काव्यात्मक शब्दों में प्रस्तुत करते हुए **दशश्लोकी** नामक अपनी एक रचना में आचार्य शंकर कहते हैं—

न भूमिर्नतेजो न तोयं न वायुः
न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनेकान्तिकत्वात् सुषुप्त्येकसिद्धः
तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश या इनसे रचित कोई भी वस्तु सत् नहीं है, क्योंकि इनकी अनुभूयमान सत्ता एक-जैसी नहीं होती। सुषुप्ति अवस्था में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जिस आनन्द रूप चैतन्य की सूक्ष्म अनुभूति होती है वह चैतन्य ही जीव तथा विश्व का मूल रूप है।' इस कथन से सुस्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत के अनुसार परम चैतन्य ही एकमात्र सत् है, उससे भिन्न कुछ है ही नहीं जिसकी सत्ता या निर्माण का स्पष्टीकरण आवश्यक हो। अपनी एक अन्य सुप्रसिद्ध काव्यात्मक रचना के प्रथम श्लोक में ही शंकर कहते हैं—

विश्वं दर्पण-दृश्यमाननगरी-तुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्‌गतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्री गुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।

'दर्पण में दृग्गोचर होने वाले दर्शक के प्रतिबिंब के समान परब्रह्म अपने ही स्वरूप को अपने में ही विश्व के रूप में ग्रहण करता है। यह एक प्रकार से परब्रह्म की स्वनिर्मित स्वप्नावस्था है। इस स्वप्नावस्था से जागृत होने पर परब्रह्म अपनी ही अद्वितीय सत्ता का साक्षात्कार करता है। वास्तव में विश्व की अपनी कोई सत्ता नहीं है।'

इस तथा इस जैसी अन्यान्य उक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत की दृष्टि में विश्व के निर्माण, रक्षण आदि के कर्त्ता की वास्तविक समस्या ही नहीं है। ऐसा भी कह सकते हैं कि ऐसी कोई समस्या वास्तविक नहीं है। यह स्पष्ट करने के लिए ही अद्वैतवेदान्त-दर्शन का विस्तार हुआ है। इस दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण आकरग्रंथ—अद्वैतसिद्धि के प्रारंभ में ही ग्रंथकार मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—'अद्वैत सिद्धेः द्वैतमिथ्यात्व सिद्धि पूर्वकत्वात् द्वैत मिथ्यात्वमेव आदौ विविच्यते।' अद्वैत की सत्यता प्रस्थापित करने के लिए द्वैत रूप विश्व की असत्यता सिद्ध करना आवश्यक है। अतः इस असत्यता का ही विवेचन प्रथम किया जा रहा है।

अद्वैत की विश्व तथा विश्वकर्त्तृ विषयक भूमिका न्याय की तत्सम्बन्धी भूमिका के नितान्त विपरीत है। न्याय विश्व को पूर्णतया सत्य मानकर उसके कर्त्ता की तार्किक गवेषणा करता है। जैसे घट, पटादि क्षुद्र पदार्थों के कर्त्ता होते हैं वैसे ही इस विराट् विश्व का भी कर्त्ता होना आवश्यक है। यह कर्त्ता क्षुद्र वस्तुओं के कर्त्ताओं के ज्ञान, इच्छा, कृति, दैशिक, कालिक परिमाण जैसे सामान्य गुण-धर्मों से आत्यंतिक रूप से श्रेष्ठ ज्ञान, इच्छादि गुण-धर्मों से विभूषित होता है। ऐसा होते हुए भी वह शरीरी नहीं होता, न ही उसका विश्व-कर्त्तृत्व किसी शारीरिक अवस्था या उपकरणों पर निर्भर करता है। इस प्रकार कुछ बातों में ईश्वर सामान्य कर्त्ताओं के जैसा होता है तो कुछ बातों में उनसे नितान्त विसदृश होता है, ऐसा न्याय दर्शन मानता है। इस विचार-सरणी में और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ऊपर चर्चा की गयी तीन विचार-सरणियों में एक मौलिक भेद यह है कि यह विचार-सरणी ईश्वर को विश्वातिशायी समझकर उसकी सत्ता प्रस्थापित करने का प्रयत्न करती है जबकि उक्त विचार-सरणियों के अनुसार ईश्वर किसी न किसी रूप में विश्व में ही समाविष्ट होता है। न्याय के द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये गये तर्क भारतीय दर्शन में काफी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। लेकिन उनमें एक गंभीर दोष है। वह यह है कि उन सब तर्कों में यह पूर्वगृहीत है कि विश्व जड़ है और ईश्वर नित्यचेतन होने के कारण विश्व से नितान्त भिन्न है। किन्तु क्या ईश्वर विश्व का पूर्णतया निर्माण करता है? नहीं। विश्व के मूलाधारभूत सभी पदार्थ—परमाण्वादि तथा जीवात्माएं—विश्व की सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान होते हैं। इनके परस्पर संयोग या समायोजन के लिए अपेक्षित जीवात्माओं के अदृष्ट भी पहले से विद्यमान होते हैं। इन सभी पदार्थों में अपना अपना कार्य करने की शक्ति भी निसर्गतः विद्यमान होती है। तो फिर ईश्वर का विश्व-निर्माण की प्रक्रिया में क्या सहयोग होगा? इस प्रश्न का उत्तर न्याय के अनुसार यही होगा कि ईश्वर सभी पूर्वसिद्ध प्राकृतिक कारणों को अपने अपने कार्य की ओर उन्मुख करता है। विश्व को चलाने वाले जीवात्माओं के अदृष्टों को ईश्वर संचालित करता है। लेकिन यदि विश्व में अपने निर्माण, संचालन, विनाश तथा पुनर्निर्माण आदि के लिए अपेक्षित सब कारणकलाप समाविष्ट हैं तो ईश्वर के कर्त्तृत्व की अपेक्षा उसे क्यों हो? यह कहा जा सकता है कि विश्व में सब तरह के कारण समाविष्ट होते हुए भी उनके विभिन्न क्रियाकलापों के समायोजन के लिए एक सर्वातिशायी कर्त्ता की आवश्यकता होगी। लेकिन यह उत्तर संतोषदायक नहीं है। इस पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या विश्वघटक विभिन्न कारण-समुदाय परस्पर समायोजन योग्य है? विज्ञान के शब्दों में इस प्रश्न का स्वरूप यह होगा कि 'क्या सभी वैश्विक प्रक्रियाओं के निर्धारक (कॉस्मिक कॉस्टेंट्स) या वैश्विक स्थिर-तत्त्व परस्परानुषंगी हैं?' यदि इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक हो तो ईश्वर को कर्त्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी। इसके विपरीत यदि इन कारणों या तत्त्वों को स्वतः निष्क्रिय या परस्पर विरोधी माना जाय तो ईश्वर इनमें कोई परिवर्तन ला सकता है, यह कैसे मान लिया जाय? लाइबनिज़ के मतानुसार विश्व में परिदृश्यमान सामंजस्य पूर्वसिद्ध मानना ही तब तर्कसंगत होगा।

आधुनिक विज्ञान वैश्विक प्रक्रियाओं के नियामक तत्त्वों के निर्धारण के प्रयास में लाइबनिज़ की सामान्य सामंजस्य की अवधारणा से या अद्वैत वेदान्त के परब्रह्म के संप्रत्यय से बहुत आगे निकल आया है। उसने जो उक्त वैश्विक मूल तत्त्व खोज निकाले हैं वे एक तरह से सभी मूलभूत वैश्विक कारण-समूहों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का सामान्य स्वरूप उद्घाटित करते हैं। लेकिन ये मूल तत्त्व समग्र विश्व या उसके अंग-प्रत्यंगों का स्वरूप प्रकट नहीं करते। ये तो केवल जड़ भौतिक विश्व को ही विश्व की संपूर्णता मानकर उसके स्वरूप-विश्लेषण से प्राप्त किये गये तत्त्व हैं। जाड्य से अन्य भी विश्व के नैतिक, कलात्मक, आध्यात्मिक, सामाजिक जैसे अनेक आयाम हैं जिनका विचार ही विज्ञान में अब तक नहीं किया गया है। अब कहीं द्रष्टृ चेतना के माध्यम से विज्ञान की खोजों में इन आयामों का क्रमशः चंचु-प्रवेश होना प्रारंभ हुआ है। जब हम समग्र विश्व के सब आयामों के सर्वंकष विचार की ओर अग्रसर होंगे तब हमें उक्त वैश्विक तत्त्वों से कहीं अधिक व्यापक तत्त्वों, या कहें संप्रत्ययों की विश्व के स्वरूप-निर्धारण के लिए आवश्यकता प्रतीत होगी। इन सभी तत्त्वों का समन्वयक भी कोई तत्त्व होना आवश्यक है, अन्यथा इस एकात्म विश्व की स्थिति असंभव हो जायेगी। इसी सर्वसमावेशी तत्त्व, या विज्ञान के शब्दों में सुपर कॉस्मिक-कॉंस्टेंट को हम ईश्वर मान सकते हैं।

ऐसा सर्वसमावेशक तत्त्व वस्तुमात्र का अधिष्ठान कहा जा सकता है, क्योंकि संसार की क्षुद्रातिक्षुद्र वस्तु को भी पूर्णतया जानने-समझने के लिए उक्त तत्त्वों का उपयोग करना ही पड़ता है। किसी भी वस्तु को उसके दृश्य संकुचित, मर्यादित रूप में हम स्वयंपूर्ण नहीं समझ सकते। प्रत्येक वस्तु में समग्र विश्व को एक प्रकार से अंतर्भूत माना जा सकता है। इसीलिए कहा गया है 'एको भावः सर्वतो येन दृष्टः सर्वेभावाः तत्त्वतः तेन दृष्टाः' जिसने एक वस्तु को अच्छी तरह जान लिया उसने समग्र विश्व को ही जान लिया। यह बात आज की अणुभौतिकी को पूर्णतया स्वीकार्य है। विश्व का मूलभूत एक-एक अणु विश्व के दूसरे, कितनी भी दूरी पर स्पंदमान अणु से संबद्ध है ऐसा अणुवैज्ञानिक कहते हैं। यही बात महान जर्मन दार्शनिक इम्मेनुएल कॉंट ने ज्ञानमीमांसा के अपने विवेचन के प्रसंग में परोक्षतया कही है।

यह अतीव आश्चर्यजनक बात है कि वस्तुमात्र से संबद्ध विविध प्रकार के अनंतता के आयामों को स्वीकार करते हुए भी कॉंट अनंतता और तत्सदृश एकता आदि तत्त्वों को केवल नियामक या आदर्शभूत नियमों (ह्यूरिस्टिक प्रिंसिपल्स) के रूप में ही वर्णित करता है। किन्तु विश्व के अंतरंग में समाविष्ट तत्त्व और विश्व के नियामक तत्त्व एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न नहीं हो सकते। जो तत्त्व विश्व के घटक हैं और जिनकी खोज विज्ञान में अभी जारी है उन्हीं का परिनिष्ठित तथा समुच्चित रूप परमेश्वर है।

प्रोफेसर कॉलोनी, हनुमान नगर, नागपुर।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बाह्यार्थवादी बौद्धसम्मत ख्याति-विचार

अम्बिकादत्त शर्मा

भारतीय प्रमाणमीमांसा के विकास में अवान्तर रूप से जिन सिद्धान्तों का सर्वाधिक विकास हुआ है उनमें संवित् प्रकाशवाद, प्रामाण्यवाद एवं ख्यातिवाद बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस वादत्रय को समझे बिना भारतीय दर्शन के न केवल प्रमाण-मीमांसीय पक्ष को बल्कि उसके तत्त्वमीमांसीय पक्ष को भी भलीभाँति नहीं समझा जा सकता। अपने इसी महत्त्व के कारण उपर्युक्त तीनों से सम्बन्धित सिद्धान्तों का बहुविध विकास एक-एक वाद के रूप में हुआ है जबकि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय अपने आप में भी एक-एक वाद को प्रस्तत करते हैं। ये तीनों वाद यद्यपि प्रमाणमीमांसा के अन्तर्गत ही आते हैं, लेकिन इनका सीधा सम्बन्ध प्रमाणों के स्वरूप, संख्या, विषय एवं विनियोग से न होकर प्रमाणमीमांसा की आधारभूत संरचना से होता है। वास्तव में इनका सम्मिलित रूप ही प्रमाण-चिन्तन को प्रमाणशास्त्र के रूप में प्रस्तुत करता है।

. I

इस वादत्रयी में ख्यातिवाद प्रथम दृष्ट्या प्रत्यक्षात्मक भ्रान्ति से सम्बन्धित है। परन्तु भारतीय दर्शन में इसका जिस रूप में विकास हुआ है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। अर्थात् 'भ्रम' महज़ एक अपवाद नहीं जो कदाचित् घटित हो जाता है, बल्कि इसमें अनुभव की व्यापक समीक्षा के सूत्र खोजे जा सकते हैं। यह हमारे अनुभव का एक ऐसा आकार-स्थल है जिसकी सुसंगत व्याख्या किसी भी दर्शन के लिए अपनी संपूर्ण दार्शनिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में करना आवश्यक हो जाता है। इसीलिए भारतीय दार्शनिकों ने इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बहुत ध्यान नहीं दे कर वास्तव में उसके तार्किक एवं दार्शनिक पक्ष पर गम्भीरता से विचार किया है। यहाँ हम यह टिप्पणी करना चाहेंगे कि 'भ्रम' एक पुरुषोचित दोष है और इस रूप में इसे स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं, लेकिन भ्रम के स्वरूप को लेकर तत्तद् दर्शनों के मध्य विवादों का एक लम्बा इतिहास है। इस विवाद में वस्तुतः ख्यातिवाद के नाम से भारतीय दर्शन की विभिन्न तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्तियों का ही द्वितीयावर्तन हुआ है। यदि इसमें भ्रम की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति के प्रश्न को भी समुचित महत्त्व दिया जाता तो प्रमाणमीमांसीय दृष्टि से वह ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो सकता था।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

 Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद के क्रमिक विकास का इतिहास बहुत स्पष्ट नहीं है। सम्भवत: आचार्य शंकर के कारण और शंकरोत्तर काल में भ्रम और भ्रमभात पदर्थ के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न को बहुत गम्भीरता से लिया गया और इसी काल में भ्रम विषयक सिद्धान्त ख्यातिवाद के रूप में स्थापित हुए हैं। मंडन मिश्र[1] के **विभ्रम विवेक** नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम कुछ प्रसिद्ध ख्यातियों का नामकरण एवं उन पर व्यवस्थित चर्चा देखने को मिलती है, परन्तु ख्यातिवाद क वास्तविक विकास को आचार्य शंकर के अध्यास भाष्य के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। आचार्य शंकर का अध्यास भाष्य (ब्रह्मसूत्र भाष्य का उपोद्घात) भ्रम की अवधारणा पर तार्किक एवं दार्शनिक दृष्टि से लिखा गया पहला प्रबन्ध है। इससे पूर्व के दार्शनिक साहित्य में यत्र-तत्र भ्रमात्मक ज्ञान एवं उसके प्रकारों के संदर्भ तो प्राप्त होते हैं लेकिन वहाँ उसका अवधारणीकृत रूप खोज पाना कठिन है। यहाँ तक कि बौद्ध ग्रन्थों में, जहाँ प्रचुर मात्रा में अपनी इष्टसिद्धि के लिए भ्रम को दृष्टान्त बनाया गया है और जिसके चलते आचार्य शंकर पर अध्यास के सम्बन्ध में प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप लगाया जाता है, वहाँ भी भ्रम को एक सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है। आचार्य शंकर ने पहली बार भ्रम को अध्यास से जोड़ते हुए उसे सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया है और 'अन्यथात्व' को उसका सामान्य लक्षण बता कर भ्रमात्मक ज्ञान के तार्किक विकल्पों का अध्याहार किया है।[2] सम्भव है कि इन विकल्पों का अध्याहार करते हुए उनकी दृष्टि में उस समय तक प्रसिद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों की भ्रम विषयक संकल्पना ध्यान में रही हो, लेकिन तार्किक दृष्टि से भी उन विकल्पों के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता। ऐसा इसलिए कि अद्वैत वेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं विकल्पों में अन्य दर्शनों की भ्रम विषयक अवधारणाओं का अन्तर्भाव करते हुए उनको पूर्वपक्ष बनाया है। एतद्विषयक आचार्य शंकर की महत्त्वपूर्ण उपपत्ति 'अन्यथात्व' को अनिर्वचनीय रूप में प्रतिपादित करना था। सामान्य तौर पर हम अपनी आनुभविक उपलब्धियों को सत्य और असत्य के द्वैराश्य में विभाजित करते हैं। अनुभव की अनुमत सीमा में सत्य और असत्य से पृथक् और परे किसी अनिर्वचनीय कोटि के लिए कोई स्थान ही नहीं हो सकता है। अनिर्वचनीय ख्याति की आलोचना में इस आपत्ति को मध्यम परिहार नियम की अवहेलना के रूप में प्राय: सभी आलोचकों ने उठाया है, क्योंकि वे सभी अनिर्वचनीयता की व्याख्या अनुभव की परिसीमा में करने का प्रयास करते हैं। परन्तु आचार्य शंकर जव 'अन्यथात्व' के स्वरूप को अनिर्वचनीय बताते हैं तो उनकी दृष्टि यह प्रतीत होती है कि भ्रम एक ऐंसी घटना है जिसकी सम्यक्

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

व्याख्या अनुभव की सीमा में नहीं की जा सकती। अनुभव की सीमा में कोई भी उपलब्धि या तो सत्य अथवा असत्य होगी, लेकिन भ्रमात्मक उपलब्धि प्रतीति और बाध विषयक होने से अनिर्वचनीय है। यहाँ अनिर्वचनीयता का अर्थ मात्र निर्वचन का अभाव नहीं है और साथ ही सत् और असत् कोटियों से पृथक् या दोनों से एक साथ विलक्षण होना भी अनिर्वचनीयता नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर असत् से विलक्षण होना सत् में और सत् से विलक्षण होना असत् में तथा सत् एवं असत् से विलक्षण होना (उभयाभाव) पृथक् सत् और असत् दोनों में ही प्राप्त होता है। अतएव सत् और असत् से पृथक्-पृथक् विलक्षण होते हुए दोनों से विलक्षण होना ही अनिर्वचनीयता है।[3]

भ्रमात्मक उपलब्धि की ऐसी व्याख्या का परिणाम यह होता है कि आचार्य शंकर इसे जगत्-मिथ्यात्व के पूर्व प्रारूप (आर्किटाइप) के रूप में प्रस्तुत करने में सफल हो जाते हैं। यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों ने अनिर्वचनीयता का अद्वैत प्रतिपादन के सहायक सिद्धान्त के रूप में विनियोग करते हुए सफलतापूर्वक उसका पर्यवसान अद्वैतवाद में दिखाया है। श्रीहर्ष के **खण्डनखण्डखाद्य** और उसकी शारदा टीका में अनिर्वचनीयता की उपर्युक्त निष्पत्ति को विशेष रूप से देखा जा सकता है। इस तरह आचार्य शंकर की अध्यास-भ्रम विषयक अनिर्वचनीयता का प्रस्ताव पूरे भारतीय दर्शन के लिए एक ऐसे सर्वग्रासी पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत हुआ जिसने शेष दार्शनिक सम्प्रदायों को भ्रम विषयक अपने पक्ष को स्पष्ट करने के लिए न केवल उत्प्रेरित किया बल्कि रास्ता भी दिखाया है। वस्तुतः इसी पूर्वपक्ष की प्रतिक्रिया में सभी दर्शनों द्वारा अपने-अपने पक्ष में भ्रम की व्याख्या के प्रयास ने 'ख्यातिवाद' का रूप ले लिया। इन ख्यातियों की प्रसिद्धि कभी पंचक तो कभी षटक और अष्टक रूप में हुई किन्तु हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा में इनकी संख्या चौदह गिनाई गई है। इधर हाल में ही पं. बच्चुलाल अवस्थी ने अपनी पुस्तक **वादत्रयी** में बीस प्रकार की ख्यातियों का विवरण प्रस्तुत किया है।[4]

II

इस प्रकार भारतीय दर्शन में ख्यातिवाद के विकास में आचार्य शंकर की उपष्टम्भक भूमिका पर टिप्पणी के पश्चात् हम अपने निर्धारित विषय की ओर लौटते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में हमारा उद्देश्य बाह्यार्थवादी बौद्धों की ख्याति विषयक अवधारणा को स्पष्ट करना है। अवधेय है कि भारतीय दर्शनों में जब ख्यातिवाद की चर्चा की जाती है तो प्रायः बौद्धसम्मत असत्ख्याति एवं आत्मख्याति की अवधारणा पर ही विचार किया जाता है। अद्वैतवेदान्त के परवर्ती आचार्यों ने भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आचार्य शंकर द्वारा उपदर्शित अध्यास के प्रथम विकल्प (अन्यत्रान्य धर्माध्यास:) के अन्तर्गत आत्मख्याति को एवं तृतीय विकल्प (यत्र यदध्यास: तस्यैव विपरीत धर्मकल्पनामाचक्षते) के अन्तर्गत असत् ख्याति को संगृहीत किया है। **इष्टसिद्धिकार** ने प्रथम विकल्प के अन्तर्गत सत्ख्याति को रखा है और आत्मख्याति, अन्यथा-ख्याति तथा अख्याति (प्रभाकर) को सत्ख्याति का ही रूपभेद स्वीकार किया है।[5] यहाँ विचारणीय है कि जब बौद्ध दर्शन के वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक, योगाचार एवं स्वतन्त्र विज्ञानवाद इत्यादि सम्प्रदाय स्वतन्त्र रूप में प्रसिद्ध हैं और बौद्धेतर दर्शनों में इनकी गणना स्वतन्त्र रूप में की भर जाती है तो बौद्धाभिमत में दो ही ख्यातियों की चर्चा क्यों की जाती है? इसमें भी माध्यमिकों की असत्ख्याति सबसे अलग है। इसे बौद्धदर्शन के किसी अन्य सम्प्रदाय से जोड़ा नहीं जा सकता। तब भी प्रश्न उठता है कि शेष सम्प्रदाय, जिनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी हैं, योगाचार निरालम्बनवादी है तथा दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का स्वतन्त्र विज्ञानवाद, जो विशुद्ध रूप में बौद्ध दर्शन का न्यायवादी सम्प्रदाय है—सभी को आत्मख्याति के अन्तर्गत संगृहीत कर लेना कहाँ तक उचित हो सकता है? स्वयं बोद्धों ने अपने ख्याति सिद्धान्त को न तो स्पष्टतया प्रतिपादित किया है ओर न ही उनका नामकरण घोषित किया है। अतएव यह एक जटिल समस्या है कि वैभाषिकों, सौत्रान्तिकों एवं बौद्ध नैयायिकों के लिए अलग-अलग ख्यातियों का प्रावधान किया जाय अथवा प्रकारभेद के साथ उनके मतों को आत्मख्याति के अन्तर्गत संगृहीत कर लिया जाय। यदि इसे स्वीकार भी किया जाय कि माध्यमिकों की असत्ख्याति को छोड़कर बौद्ध दर्शन के शेष सम्प्रदायों का ख्याति-विचार आत्मख्याति के अन्तर्गत ही आता है तो इसका युक्तियुक्त आधार क्या होगा? पुन: उन तात्त्विक भेदों की विशिष्टता कैसे सुरक्षित रहेगी जिसके सन्दर्भ में ख्याति विषयक सिद्धान्तों का पारस्परिक भेद व्याख्येय होता है? प्राय:यही देखा जाता है कि भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय अपने तत्त्वमीमांसीय आग्रहों के अनुरूप ही स्वाभिमत ख्यातियों का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ तक कि तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता के चलते ही कुछ दार्शनिक जो सत् की अवधारणा व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद के साथ करते हैं, वे ख्याति के सन्दर्भ में सामान्य अनुभव और भ्रमात्मक अनुभव की व्याख्या एक ही सिद्धान्त के द्वारा एक ही स्तर पर करते हुए प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर वे दार्शनिक, जो एकस्तर-सत्तावादी हैं (न्याय, वैशेषिक, मीमांसक, माध्व इत्यादि), भी भ्रम की व्याख्या में केवल आत्मनिष्ठता के अपवारण का ही प्रयास करते हुए दिखते हैं। यह भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कम तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शन के ख्याति-विचार में सर्वत्र तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता का ही पुनरावर्तन हुआ है। इसे एक दृष्टि से गुण तो दूसरी दृष्टि से दोष भी कहा जा सकता है।

वस्तुत: उपर्युक्त समस्या पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के वैसे सम्प्रदायों में, जहाँ बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की पहचान करते हुए उन्हें पूर्वपक्ष बनाया गया है, वहाँ बाह्यार्थवादी एवं विज्ञानवादी बौद्धों के ख्याति-विचार की अलग-अलग पहचान नहीं की गई है। केवल वाचस्पति मिश्र[6] ने अपनी **भामती** में योगाचारसम्मत आत्मख्याति की चर्चा करते हुए प्रसंगत: वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों का नामोल्लेख तो किया है लेकिन वहाँ भी उनकी विशिष्टताओं को व्याख्यायित नहीं किया गया है। आधुनिक आचार्यों में पं. बच्चूलाल अवस्थी ने ख्यातिवाद पर पुंखानुपुंख विचार करते हुए बाह्यार्थवादी बौद्धों (वैभाषिक, सौत्रान्तिक) के ख्याति-विचार को अन्यथाख्याति से अभिहित किया है।[7] यद्यपि इसके लिए उन्होंने कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है, केवल उपरी तौर पर बाह्यार्थवाद के आग्रह से उन्हें अन्यथाख्यातिवादी कह भर दिया है। द्रष्टव्य है कि बौद्धों के बाह्यार्थवाद एवं बौद्धेतर दर्शनों के बाह्यार्थवाद में आत्यन्तिक भेद है और यह भेद उनके ख्याति-विचार में भी व्यावर्त्तक भेद को उत्पन्न कर सकता है। वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी होते हुए भी ज्ञान में कल्पना की रचनात्मक भूमिका को स्वीकार करते हैं जबकि कोई भी बौद्धेतर बाह्यार्थवादी दर्शन ज्ञान में कल्पना के अंश को वर्जित करने का हर सम्भव प्रयास करता है। पुन: अन्यथाख्याति की व्याख्या में रज्जु एवं सर्प दोनों ही अलग-अलग यथार्थ होते हैं, लेकिन वैभाषिक, सौत्रान्तिक दृष्टि से रज्जु की सत्ता को पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता और सर्प के रूप में उसकी भ्रान्ति तो भ्रान्त है ही। अत: पं. बच्चूलाल अवस्थी की न्यायवासनावासित व्याख्या उचित नहीं कही जा सकती।

III

हमारे विचार से वैभाषिकों के बाह्यप्रत्यक्षवाद, सौत्रान्तिकों के बाह्यानुमेयवाद, योगाचार के निरालम्बनवाद और दिङ्नाग, धर्मकीर्ति के प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पवाद में समवेत रूप से आत्मख्याति का ही सिद्धान्त निष्पादित होता है। यद्यपि इनकी तत्त्वदृष्टि और पद्धति में पर्याप्त भेद विवक्षित है तथापि उनके संज्ञान-सिद्धान्त में आत्मनिष्ठता के बीज विद्यमान ही नहीं बल्कि अनुभव की आत्मनिष्ठ व्याख्या उनके लिए अत्यन्त उपादेय भी है। पुन: ध्यातव्य है कि बौद्धदर्शन के सम्प्रदायों का एक महत्त्वपूर्ण विभाजन साकारज्ञानवाद एवं उसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अवान्तर भेदों में किया जाता है।[8] साकारज्ञानवाद में भी ख्याति की अवधारणा 'आत्मख्याति के रूप में ही फलित होती है। इसके अतिरिक्त 'सारूप्य' की अवधारणा के चलते ही सौत्रान्तिकों एवं बौद्धनैयायिकों के मत में आत्मख्याति की ही व्याप्ति बनती है। यदि इस समस्या पर क्षणिकवाद की आधारभूत दृष्टि से विचार करें तो कहा जा सकता है कि क्षणिकवाद की पृष्ठभूमि में सविकल्पक अनुभव के लिए विकल्पों अथवा नामजात्यादि कल्पनाओं का उपचार किसी न किसी तरीके से स्वीकार ही करना पड़ता है, चाहे कोई क्षण को बाह्य अथवा विज्ञान-क्षण के रूप में ही क्यों न माने। अत: बौद्ध दर्शन के बाह्यार्थवादी सम्प्रदायों के ख्याति-विचार को पद्धति एवं प्रकार-भेद के साथ आत्मख्याति के अन्तर्गत ही व्याख्यायित किया जा सकता है।

बौद्धदर्शन में आत्मख्याति का प्रसिद्ध एवं मानक रूप हमें योगाचार विज्ञानवाद में देखने को मिलता है। उनके अनुसार ग्राह्य-ग्रहक-विनिर्मुक्त अद्वय विज्ञान की पारमार्थिक सत्ता है। घट-पट आदि बाह्य पदार्थ विज्ञान के ही आकार मात्र हैं, जो अनादिवासना के बल से बहिर्वत् भासित होते हैं। यदि बाह्यार्थों का कुछ भी सार है तो उसे विज्ञानाकार के रूप में ही समझा जा सकता है। अतएव आत्मख्याति में बाह्यार्थों की बाह्यता का आत्यन्तिक निषेध किया गया है जबकि विज्ञानाकार के रूप में उन्हें मान्य किया गया है। अवधेय है कि योगाचार सम्मत त्रिस्वभाव व्यवस्था[9] के अनुसार विशुद्ध विज्ञान 'परिनिष्पन्न स्वभाव', आकारयुक्त विज्ञान 'परतन्त्रस्वभाव' और विज्ञानाकारों की बाह्यार्थ रूप में ख्याति 'परिकल्पित स्वभाव' है। इस व्यवस्था में भ्रमभात पदार्थ भी विज्ञान के आकार मात्र ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ लौकिक पदार्थ आलयविज्ञान के आकार होते हैं वहीं वैयक्तिक भ्रम में भासित होने वाले पदार्थ क्लिष्ट मनोविज्ञान के आकार होते हैं। इस प्रकार, आत्मख्यातिवादी दृष्टि से भ्रम का सामान्यलक्षण 'ज्ञानाकारस्यैव बहिरवभासी विभ्रम:' ही बनता है। यह लक्षण सन्दर्भ-भेद से घट-पट आदि लौकिक पदार्थों एवं भ्रमभात सर्पादि पदार्थों पर समान रूप से लागू होता है।

अब यदि आत्मख्याति के मानक स्वरूप को सामने रखकर तथाकथित वाह्यार्थवादी बौद्धों की ख्याति विषयक संकल्पना को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाय तो प्रथमतया यह कहा जा सकता है कि जहां योगाचार मत में ख्याति निरधिष्ठान है वहीं बाह्यार्थवादियों के मत में बाह्यार्थ के अनुरोध से ख्याति को साधिष्ठान ही मानना पड़ेगा। ख्याति को साधिष्ठान मानकर भी किस प्रकार बाह्यार्थवादी बौद्धों का मत अन्यथाख्याति न होकर आत्मख्याति का ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

एक प्रकार ठहरता है, इस बात को वैभाषिकों, सौत्रान्तिकों एवं एक सीमा तक न्यायवादी बौद्धों के संज्ञान-सिद्धान्त अथवा प्रत्यक्ष की अवधारणा के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। ऐसा इसलिए कि ख्याति का विचार प्रत्यक्षात्मक भ्रान्ति अथवा प्रत्यक्षाभास के रूप में ही किया जाता है। इस रूप में 'ख्याति' ज्ञान का अभाव नहीं बल्कि विपर्यय ज्ञान है। अतः उसके स्वरूप का विधि रूप से मूल्यांकन ही ख्यातिवाद की केन्द्रीय समस्या रही है। उपर्युक्त तीनों सम्प्रदाय अपने-अपने संज्ञान सिद्धान्त में प्रथमदृष्ट्या बाह्यालम्बन को स्वीकार करते हैं और स्पर्श (वैभाषिक), सारूप्य (सौत्रान्तिक) एवं स्वसंवेदन (न्यायवादी बौद्ध) के आधार पर उसकी अलग-अलग व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। परन्तु उनके मत में आगम-प्रोक्त और तर्कतः समीक्षित बाह्यार्थ का स्वरूप ही इतना सूक्ष्म है कि क्षणभंगुर आलम्बन का हमारे ज्ञान के स्वरूपावधारण में निमित्त मात्र के अतिरिक्त कोई विशेष योगदान नहीं हो पाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि हम बाह्यार्थों को जैसा समझते हैं और व्यवहार करते हैं वास्तव में हमारा उस आकार का अध्यवसायात्मक ज्ञान बाह्यार्थों के वास्तविक स्वरूप (तथता) के सच्चे स्वरूप को प्रदर्शित नहीं करता है। जब हम वस्तुमात्र (बाह्य+आन्तरिक) की संकल्पना पृथक्-पृथक् क्षणभंगुर धर्मों के रूप में करते हैं तो उनके प्रत्यक्ष की व्याख्या बहुत जटिल हो जाती है। ऐसा इसलिए कि न केवल वस्तुएं क्षणिक हैं, बल्कि प्रत्यक्ष की प्रक्रिया भी उतनी ही क्षणिक है। यदि प्रत्यक्ष और उसका विषय दोनों क्षणिक हैं तो उनके मध्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है और सम्बन्ध के बिना आखिर विषय को किस प्रकार प्रत्यक्षात्मक विषय कहा जा सकेगा? पुनः, प्रत्यक्ष की प्रक्रिया पूर्ण होने तक भी वस्तु को स्थिर माना जाय तो वस्तु की क्षणिकता ही बाधित हो जाती है।[10] अतएव ज्ञेय वस्तु की क्षणिकता एवं प्रत्यक्ष में एक सहज विरोध प्रतीत होता है। बाह्यार्थवादी बौद्ध इस विरोध का बड़ा ही मौलिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार यह विरोध तब दिखाई पड़ता है जब हम वस्तु तथा ज्ञान को कालिक अनुक्रम में रखकर देखते हैं। वास्तव में जबकि तथता अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद के नियमानुसार दोनों की उत्पत्ति समानान्तर रूप से होती है, इस नियम से आलम्बन, इन्द्रिय-विकार और विज्ञान का त्रिकसन्निपात होना ही प्रत्यक्ष का घटना है। दूसरे शब्दों में, रूप का एक क्षण, इन्द्रिय का एक क्षण और विज्ञान का एक क्षण इन तीनों के युगपद् स्पर्श से रूप-विज्ञप्ति का समुत्पाद होता है। यह रूप का प्रत्यक्ष है। वैभाषिकों के अनुसार रूप विज्ञप्ति के समय रूप कोई मृत पूर्ववर्ती क्षण नहीं, वह अपने ज्ञान-काल में भी जीवित रहता है। अतएव उनके मत में चक्षुर्विज्ञान निराकार उत्पन्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होता है जिससे रूप का ग्रहण होता है। वैभाषिकों का ऐसा विचार तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता इसलिए सौत्रान्तिकों ने जमकर इसकी आलोचना की है, फिर भी आगम के आधार पर वे अपने मत का समर्थन जुटा लेते हैं।[12] सौत्रान्तिक विज्ञान को निराकार नहीं, साकार मानते हैं, क्योंकि वह रूप आदि का सारूप्य लिए हुए उत्पन्न होता है। उनके अनुसार जब रूप-विज्ञान उत्पन्न होता है तो उसका आलम्बन रूप-क्षण मृत हो चुका रहता है।[13] अतएव बाह्यार्थ प्रत्यक्ष नहीं अनुमेय होते हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि स्वतन्त्र विज्ञानवादियों के मत में विज्ञान जिस आकार को लिए हुए उत्पन्न होता है उसी का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है।[14] बौद्धदर्शन में यह प्रसंग (स्पर्श, सारूप्य, स्वसंवेदन) एक गूढ़ आकर-स्थल है, जहाँ से तीनों सम्प्रदायों के ओर-छोर अलग-अलग रूप से विकसित होते देखे जा सकते हैं। प्रसंगत: यहाँ हम विस्तार से इसका प्रतिपादन नहीं कर पा रहे हैं।

द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों में प्रत्यक्ष को जिस रूप में अवधारित किया गया है उससे प्रत्यक्ष का नितान्त निर्विकल्पक स्वरूप सामने आता है। साथ ही साथ यह प्रत्यक्ष क्षणिक भी है। इससे वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों का पुद्गल (धर्म संघात) और बौद्ध नैयायिकों का सामान्यलक्षण व्याख्यायित नहीं हो पाता है, जबकि वे ही हमारे सामान्य अनुभव के विषय होते हैं। अतएव एक ओर क्षण-संतान में ही वस्तुओं को संरचित बताना पड़ता है तो दूसरी ओर घट-पट आदि संरचित वस्तुओं के सविकल्पक ज्ञान की व्याख्या के लिए किसी न किसी तरीके से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की आधारभूमि पर नाम-जात्यादि विकल्पों-कल्पनाओं का आरोपण स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रक्रिया में नील-पीत आदि सामान्य अनुभव के पदार्थ, बाह्यार्थवादी बौद्धों के मत में, अन्तत: मानसिक संरचना मात्र ही सिद्ध होते हैं। यह इनका सांवृतिक स्वरूप है। उनका पारमार्थिक स्वरूप तो सामान्य अनुभव के लिए अग्राह्य ही बना रहता है (क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुं अशक्यत्वात्)।[15] हमारे सामान्य अनुभव का स्वरूप 'यह नील है' के आकार वाला होता है। इसमें 'यह' अंश वस्तुक्षण अथवा विज्ञानक्षण का द्योतक है और 'नील है' अंश सम्पूर्णतया विकल्पात्मक अध्यवसाय होने से मानसिक संरचना मात्र है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हम 'यह' को, अर्थात् एक विविक्त क्षण को, ही नीलवस्तुतया विकल्पात्मकरूप से ख्यापित करते हैं। 'यह नील है' का जब 'पीत है' के रूप में भ्रम होता है तो वास्तव में नीलक्षण अथवा नीलविज्ञान का ही वस्तुतया विकल्पीकरण और व्याख्यापन होता है। इसके लिए धर्मोत्तर ने अपनी **न्यायबिन्दु टीका** में इन्द्रियगत, विषयगत,

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बाह्याश्रयगत और अध्यात्मगत नामक भ्रान्तिज्ञान के चतुर्विध हेतुओं को उपदर्शित किया है। अतएव जिस प्रकार 'यह नील है' की विकल्पात्मक बुद्धि होती है उसी प्रकार 'यह पीत है' का भ्रम भी एक विकल्पात्मक बुद्धि ही है। यही बाह्यार्थवादी बौद्ध मत में इस प्रकार भेद से आत्मख्याति है। यदि इसे किसी दूसरे शब्द से कहना आवश्यक हो तो 'विकल्प ख्याति' कहा जा सकता है।

IV

आत्मख्याति (योगाचार) और विकल्पख्याति (बाह्यार्थवादी) दोनों एक ही गोत्र, कल्प की ख्यातियाँ हैं, परन्तु इनका अन्तर भी बड़ा ही मार्मिक है। योगाचारमत में 'यह नील है' की इदन्ता का आत्यन्तिक निषेध किया जाता है और नीलाकारता विज्ञानगत मानी जाती है। अनादि वासना के प्रभाववश विज्ञान (आलय विज्ञान) में ही आकारों का समुद्भव होता रहता है और आश्रयपरावृत्ति के उपरान्त सभी आकारों का निरोध हो जाता है तब विज्ञप्तिमात्रता परिनिष्पन्न होती है।[16] अतएव योगाचार में हमारे सांवृतिक अनुभव के निर्णयों का स्वरूप वास्तव में 'यह नील है' के रूप में न होकर 'नील यह है' के रूप में होता है। यहाँ 'नील' ही आन्तर होने से उद्देश्य और 'यह' बाह्यप्रक्षेपित होने से विधेय रूप में अवधेय है। इसीलिए इन पर 'गौरो अहम्' की तरह 'अहम् रजतम्' का दोष दिखाया जाता है, क्योंकि ख्याति-स्थल में रजत की इदन्ता का बाध हो जाने पर क्लिष्टमनोविज्ञानगत रजताकार ही शेष बचता है। चूँकि क्लिष्टमनोविज्ञान अहमात्मक होता है, अतएव मनोविज्ञानगत रजताकार का भी अहमात्मक चेतना से संयुक्त होना स्वाभाविक ही है, कम से कम तब तक जब तक कि रजताकार से रंजित मनोविज्ञान का निरोध किसी दूसरे आकार से न हो जाय। इसके विपरीत बाह्यार्थवादी बौद्ध मत में हमारे सामान्य अनुभव के निर्णयों का स्वरूप 'यह नील है' के रूप में ही होता है। यहाँ 'यह' पद का सन्दर्भ वस्तुक्षण अथवा वस्तुक्षण का सारूप्य लिए हुए 'विज्ञान क्षण' होता है जिसे परमार्थतः आन्तर अथवा बाह्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बाह्य और आन्तर का व्यवहार देश-काल की अपेक्षा से होता है और सर्वतोव्यावृत्त क्षण में देशकाल संगत नहीं होते हैं।[17] इसी सर्वतोव्यावृत्त स्वलक्षण रूप शुद्ध इदन्ता की नामजात्यादि पंचविध कल्पनाओं[18] से युक्त वास्तव में विकल्पख्याति होती है। विकल्पात्मक स्थिति में ही विषय-विषयी, बाह्य-आन्तर का उपचार होता है।

V

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध परम्परा में माध्यमिकों को छोड़कर, वैभाषिक, सौत्रान्तिक एवं न्यायवादी बौद्धों की ख्याति-विषयक सम्भव संकल्पना

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का अन्तर्भाव लाघवपूर्वक यौगाचार की आत्मख्याति में किया जा सकता है। यदि वाचस्पति मिश्र ने भामती में इसका संकेत किया था तो वह उचित ही था। अवधेय है कि इन सभी सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय विशिष्टता बौद्धदर्शन के विकासक्रम में अपने-अपने स्थान पर सुरक्षित एवं सम्मानित है फिर भी क्षणभंगुर सत् की व्यापक स्वीकृति के चलते इनकी ज्ञानमीमांसा में आत्मनिष्ठता का प्रवेश हो ही जाता है। यह कहना कोई अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि सत् के क्षणिक प्रतिमान को प्रस्तावित किये जाने के साथ ही आत्मनिष्ठता की अवधारणा बौद्ध दर्शन की कुंजी बन जाती है।

दर्शन विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-470003

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. मण्डन मिश्र—विभ्रम विवेक 1. आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिःख्यातिरन्यथा।
   परीक्षकाणां विभ्रान्तौ विवादात् सा विविच्यते।।
2. आचार्य शंकर द्वारा उपदर्शित विकल्प इस प्रकार है—1. अन्यत्रान्यधर्माध्यासः (2) यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिवन्धनो भ्रमः (3) यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मकल्पनामाचक्षते। इन तीनों विकल्पों के विश्लेषण में आचार्य शंकर ने 'अन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरित' दिखाते हुए 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' रूप में स्वाभिमत अध्यास का लक्षण किया है। द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्रभाष्य उपोद्घात।
3. न्यायमकरन्द—पृ. 115, यत्तावत् निर्वचनानर्हतैवानिर्वाच्यतेत्यभ्यधायि तत्रानभ्युपगम एव। यत्तु नापि सदसत्प्रकारविलक्षणता इत्यादि तत्र यद्यपि एकैकप्रकार वैलक्षण्योभयप्रकार-वैलक्षण्ययोः अस्ति व्यभिचारः, तथापि एकैक-प्रकारवैलक्षण्यावच्छिन्नोभयप्रकारवैलक्षण्यस्य लक्षणभावे न कश्चन दोषं पश्यामः।
4. पं. वच्चूलाल अवस्थी ज्ञान-वादत्रयी - ख्यातिवादाविमर्शः, प्रका. कालिदास अकादमी, उज्जैन।
5. विमुक्तात्मा-इष्टसिद्धि 1/2 पृ. 39-40 रजतं भाति यद्भ्रान्तौ तत्सदेके परे त्वसत्।
   तत्र सत्पक्षस्त्रिधा भिन्नः - आत्मख्यातिरख्यातिरन्यथाख्यातिरिति।
6. वाचस्पतिमिश्र, भामती, अध्यासप्रकरण—सौत्रान्तिकनये तावद्बाह्यस्ति वस्तुसत्, तत्र ज्ञानाकारस्या-रोपः ... तथाच रजतं वहिर्बाधिमर्थादान्तरे ज्ञाने व्यवतिष्ठत् इति ज्ञानाकारस्य वहिरध्यासः। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यम्, सं. अनन्तकृष्ण शास्त्री, पृ. 26, 1938, निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई।
7. पं. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान', वादत्रयी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

8. बौद्ध परम्परा में साकारवाद के मुख्य दो प्रभेद माने जाते हैं—सत्याकारवाद और मिथ्याकारवाद। पुनः सत्याकारवाद के अर्धाण्डाकारवाद, ग्राह्य-ग्राहक समसंख्याकवाद और नाना अद्वैतवाद नामक तीन उपभेद किये गये हैं। द्रष्टव्य **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि प्रकरणद्वय** - सम्पा. रामशंकर त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन, भूमिका, पृ. 44-48
9. वसुवन्धु, **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (त्रिंशिका)** 20, 21 एवं त्रिस्वभावनिर्देश—1, 2, 3.
10. **मध्यान्तरविभागसूत्रभाष्यटीका**, सम्पा. भट्टाचार्य एवं टुच्ची 1932, पृ. 21, वर्तमानलम्वन ग्रहणे च क्षणभंगवाधः। एवंद्रष्टव्य **अभिधर्मकोशभाष्य** 5/27.
11. त्रिकसन्निपातो स्पर्शः
12. **अभिधर्मकोश** 5/25 एवं **विभाषाप्रभा** 5/306
13. **अभिधर्मकोश** 4/4 - क्षणादूर्ध्वमविज्ञप्तिः।
14. धर्मकीर्ति, **प्रमाणवार्तिक** 2/224 - हेतुभावादृते नान्या ग्राह्यता नाम काचन। तत्र बुद्धिर्यदाकारा तस्यास्तद् ग्राह्यमुच्यते। तथा—धर्मोत्तर **न्यायविन्दुटीका**—यदाकारं विज्ञानं उत्पद्यते तदेव ग्राह्यमिति कथ्यते।
15. **न्यायविन्दु टीका**, पृ. 26
16. **विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि (त्रिंशिका)** - 29-इस पर स्थिरमति का भाष्य द्रष्टव्य।
17. प्रज्ञाकरगुप्त—**प्रमाणवर्तिकालंकारभाष्य** 2/226 वहिरन्तरिति ज्ञानं देशकालाद्यपेक्षणात्। स्वरूपव्यतिरेकेण देशकालावसंगतौ।।
18. कल्पना हि वुद्धिविशेषो, नामजात्यादिकल्पना (दिङ्नाग), अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभास प्रतीति : कल्पना (धर्मकीर्ति)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्फोटसिद्धान्त की अर्वाचीन संवाद-परम्परा*

रमाकान्त पाण्डेय

'स्फुट विकसने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'स्फोट' शब्द मूलतः 'विकास' एवं 'वृद्धि' अर्थ का वाचक है। व्याकरणशास्त्र में इसे शब्दब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा मिली है। वैयाकरणों के अनुसार स्फोट अव्यक्त ओंकार है। इसमें शब्द तथा अर्थ का भेद नहीं रहता तथापि उच्चरित ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होकर यह अर्थबोध कराता है। न्याय आदि विरोधी दर्शनों की 'संस्कार-सहकृत-अन्त्यवर्ण' आदि की अर्थवाचकता के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए शाब्दिकों ने स्फोट-सिद्धान्त की उपस्थापना की है।

भारतीय दर्शन के अनेक सम्प्रदायों में स्फोट के खण्डन एवं उसे अवैदिक निरूपित करने के लिए भरपूर प्रयास किये गये हैं। कुछ दार्शनिकों के अनुसार वैयाकरणों का अधिकार-क्षेत्र मात्र शब्दों के 'साधुत्वासाधुत्वविवेक' तक ही सीमित है। सृष्टि, विसृष्टि आदि जैसे गूढ़ एवं दार्शनिक तथ्यों के विचार का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। अतः वैयाकरणों की यह चेष्टा अनुचित एवं अप्रामाणिक है।[1]

'स्फोट' शब्द समूची वैदिक परम्परा में पहली बार पतंजलि के महाभाष्य में प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि ने 'स्फोटायन'[2] नामक किसी वैयाकरण का उल्लेख अवश्य किया है किन्तु 'स्फोट' शब्द का प्रयोग वहाँ भी नहीं हुआ। नागेश इन्हीं 'स्फोटायन' ऋषि को 'स्फोट-सिद्धान्त' का आविष्कर्त्ता बताते हैं।[3] इस प्रकार स्फोट शब्द की प्राचीनता अवश्य सिद्ध होती है तथापि इस पारिभाषिक शब्द से शाब्दिकों के अभीष्ट अर्थ के आकलन से यह निष्कर्ष स्वयं सिद्ध हो जाता है कि 'स्फोट' शब्द भले ही परवर्ती काल में गढ़ा गया हो, वैदिक संहिताओं एवं अन्य ग्रन्थों में अनेक ऐसे सूक्त एवं सन्दर्भ हैं जिनसे यह प्रमाणित हो जाता है

---

* "भारतीय दर्शन के पचास वर्ष" विषय पर रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर के दर्शन विभाग में 20-22 दिसम्बर, 2001 तक आयोजित अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत। इस निबन्ध के संदर्भ में विस्तृत चर्चा के लिए हम अपने अग्रज-कल्प मित्र डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा, उपाचार्य, दर्शन विभाग, सागर विश्वविद्यालय) के प्रति कृतज्ञ हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कि इस शब्द के व्यवहार में आने से पूर्व वैदिक काल से ही इसकी सत्ता थी। ऋग्वेद कहता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।।[4]

अर्थात् 'अक्षर' ही परम व्योम है, ऋक् के 'अक्षर' पर ही सब देव अधिष्ठित हैं।

यास्क ने 'अक्षर' की व्याख्या करते हुए उसे 'अक्षय'-जिसका कभी क्षरण न होता हो—अथवा जो वाणी का अक्ष (धुरी) हो, बताया है।[5] यह 'अक्षर' कालातीत तत्त्व है और सम्पूर्ण आविर्भावों तथा तिरोभावों का आधार है। यास्क ने इसे ओंकाररूप भी बताया है। उपनिषदों में ओंकाररूप 'अक्षर' की त्रिकालरूपता का प्रतिपादन करते हुए उसी में सम्पूर्ण प्रपंच का लय होना माना गया है।[6] उसे शिव और अद्वैत आत्मा भी कहा गया है।

ओंकार की इस वैदिक संकल्पना का पौराणिक सौष्ठव एवं दार्शनिक रहस्य **श्रीमद्भागवत** में और भी विस्तार पा सका है। अव्यक्त ओंकार को 'स्फोट' बताते हुए भागवतकार उसे स्वयंप्रकाश ब्रह्म का साक्षात् वाचक, मंत्रों का रहस्य एवं वेद का सनातन बीज निरूपित करते हैं।[7] श्रीधरस्वामी के अनुसार जीव की ज्ञानवृत्ति के करणाधीन होने के कारण वह स्फोट का श्रोता नहीं हो सकता। ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियवर्ग के शून्य होने पर होता है, अतः वही स्फोट का मूल ज्ञाता है। जीव को उसी से 'स्फोट' की उपलब्धि होती है।[8]

इस प्रकार स्फोट शब्द नवीन होता हुआ भी जिस व्यापक अर्थ का वाचक है वह वैचारिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अति प्राचीन और वैदिक परम्परा से अनुप्राणित है। व्याकरणदर्शन में इसके स्वरूप-विवेचन की लम्बी परम्परा प्राप्त होती है। पतंजलि, भर्तृहरि, दीक्षित, कौंडभट्ट और नागेश जैसे मूर्धन्य शाब्दिकों की स्फोट-व्याख्या को अर्वाचीन वैयाकरण मनीषियों ने नयी व्याख्या दी है। प्रस्तुत निबन्ध इन मनीषियों द्वारा की गयी इस व्याख्या के मूल्यांकन की दिशा में एक लघु प्रयास है।

I

वाचक शब्द के निर्णय को लेकर दार्शनिकों में प्रारम्भ से ही वैमत्य रहा है। वर्णों का न्याय-सम्मत उत्पत्ति-सिद्धान्त माना जाय या मीमांसा-सम्मत उनकी नित्यता स्वीकार की जाय, दोनों ही पक्षों में 'शक्त्याश्रय' की समस्या यथावत् बनी रहती है। वर्ण उच्चरित-प्रध्वंसी हैं अतः उनकी समुदाय रूप में युगपत् प्राप्ति सम्भव नहीं होती। नैयायिकों के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्ण-जनित-संस्कार-सहकृत अन्त्यवर्ण की वाचकता मानने में आपत्ति यह है कि पूर्वोच्चरित वर्ण के विनाश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

के अनन्तर अन्य प्रयत्न से द्वितीय-वर्ण की उत्पत्ति होने के कारण उनकी सहावस्थिति सम्भव नहीं है। महाभाष्यकार पतंजलि ने 'गौ:' पद को उदाहरण के रूप में लेकर इस तथ्य को स्पष्ट किया है। वहाँ उनका अभिप्राय यह है कि जिस क्षणविशेष में वाक् गकार में प्रवृत्त होती है उस समय औकार में प्रवृत्त नहीं होती। जिस यत्न से एक वर्ण उच्चरित होता है उसी यत्न से उसके समाप्त हो जाने के बाद ही, उससे भिन्न यत्न से द्वितीय वर्ण उच्चरित होता है। इस दशा में वर्णसंघातरूप पद की स्थिति सम्भव न हो पाने से क्षण-प्रध्वंसी वर्णों को वाचक या 'शक्त्याश्रय' के रूप में व्यवहृत करना सर्वथा अनुचित एवं अनुभव-विरुद्ध होगा।[9]

वैयाकरणों के इस आक्षेप का उत्तर नैयायिक दो प्रमुख तर्कों से दे सकते हैं—

प्रथमत: वे कह सकते हैं कि द्वितीय वर्ण के प्रत्यक्षकाल में उच्चरित होकर नष्ट हो चुका प्रथम वर्ण बुद्धि में संस्काररूप से स्थित रहता है, अत: वह अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्ध से उत्तर वर्ण से पूर्व उच्चरित वर्ण का सम्बन्धी सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार उससे उत्तरवर्ती वर्ण के प्रत्यक्षकाल में 'अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्ध' से उपस्थित पूर्ववर्ण-विशिष्ट उत्तरवर्ण का वैशिष्ट्य भी परवर्ती वर्णों में गृहीत हो जाता है और पद का प्रत्यक्ष या समूहालम्बन स्मरण होने में कोई आपत्ति नहीं आती। 'सरो-रस:' 'नदी-दीन' तथा 'जरा-राज' जैसे पदों में इस सम्बन्ध के कारण भेद भी बना रहता है।[10]

द्वितीयत: - वीचितरंगन्याय का आश्रय लेकर नैयायिक कह सकते हैं कि एक तरंग दूसरी तरंग को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है, परन्तु वर्ण अपने सजातीय वर्ण को उत्पन्न करके भी नष्ट नहीं होता। वह चरम वर्ण के प्रत्यक्ष तक बना रहता है। अत: 'घट-पट' आदि पदों की प्रत्यक्ष सिद्धि हो जाती है और पदों की 'शक्त्याश्रयता' में कोई बाधा नहीं आती।

नैयायिकों के इन तर्कों को नकारते हुए मंजूषाकार 'नागेशभट्ट' नष्ट हो चुके एवं उपस्थित हो रहे वर्णों में 'अव्यवहितोत्तरत्व' सम्बन्ध को भी असम्भव बताते हैं। उनका आशय यह है कि ऐसी दशा में "अयं वर्ण: पूर्व:" "अयं वर्ण: पर:" यह प्रत्यक्ष व्यवहार अनुचित होगा, क्योंकि विनष्ट तथा विद्यमान वर्ण में 'अव्यवहितोत्तरत्व' सम्बन्ध ही नहीं बनेगा। 'अयं वर्ण: पूर्व:' के पक्ष में समूहालम्बन स्मरण मानने पर 'इदम्' इस प्रत्यक्षबोधक पद से घटित वाक्यव्यवहार ही अनुचित है, क्योंकि पूर्वकाल में उच्चारित वर्ण या पद अनुभव के समय नष्ट हो चुका होता है।[12]

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

द्वितीय पक्ष में उक्त रीति से पद का प्रत्यक्ष स्वीकार कर लेने पर भी आप (नैयायिकों) के पद की सत्ता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि यह प्रत्यक्ष भ्रमात्मक ही होगा। भ्रमात्मक ज्ञान से वस्तु की सत्ता कभी सिद्ध नहीं होती।[13]

नैयायिक तर्क के आश्रय से इसे भ्रमात्मक न मानते हुए यह कहकर प्रमा रूप मान सकते हैं कि अन्तिम वर्ण अकार के प्रत्यक्ष तक 'घट' पद 'घ-घ-घ-अ-अ-अ-ट-ट-ट' रूप से विद्यमान ही है। भाष्य-वचन तथा अनुभव-विरुद्ध होने के कारण वैयाकरण इसे भी युक्तिसंगत नहीं मानते। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि क्षण-प्रध्वंसी स्वभाव के कारण वर्णों के संस्कार रूप में उनकी उपस्थिति मानकर यदि अविद्यमान पद में अर्थनिरूपित शक्ति मानते हैं तो 'नष्टो घट: जलवान्' जैसे व्यवहार भी प्रामाणिक होने लगेंगे।[14]

अविद्यमान दशा में भी जल का घट में आश्रयता-सम्बन्ध तथा उसी दशा में घट का जल के साथ आश्रयता-निरूपकत्व सम्बन्ध भी उपर्युक्त रीति से विनष्ट वर्णों के समुदाय रूप पदों को शक्त्याश्रय मानने से आप नैयायिकों के मत में बन ही जायेगा और इस प्रकार के सम्बन्ध आदि का ज्ञान प्रमारूप हो जायेगा। परन्तु इस स्थिति में पद एवं वाक्य के अविद्यमान होने से शब्द तथा अर्थ का वृत्तिरूप सम्बन्ध कथमपि सिद्ध नहीं हो सकेगा। भर्तृहरि ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट किया है कि वाक्यार्थ यदि शब्दशक्ति से अलभ्य है तो पद का अर्थ भी पदशक्ति से अलभ्य हो जायेगा।[15] जिस प्रकार पदों का समुदाय रूप वाक्य असत् है उसी प्रकार वर्ण-समुदायरूप पद भी असत् है। अत: दोनों का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी असम्भव है। इस प्रकार नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत दोनों पक्षों में 'एकं पदम्' तथा 'तदेवेदं कृष्णपदम्' जैसी बुद्धि कभी भी नहीं बन सकेगी, क्योंकि पद वर्णसमूह रूप और अनित्य हैं।

नैयायिक यदि यह कहें कि पूर्व नख-केश आदि के विनाश के अनन्तर पुन: जब नये नख-केश उत्पन्न हो जाते हैं तब—'तदेवेदं नखम्' और 'त एव इमे केशा:' जैसे व्यवहार प्रत्यभिज्ञा के आधार पर होते हैं। अत: यही व्यवहार पद और वाक्यस्थल में भी मान लिया जायेगा, क्योंकि शब्दज-शब्द को लेकर 'तदेवेदं पदम्' जैसी प्रत्यभिज्ञा तो वहाँ होगी ही। इस पर भी पद की अविद्यमानता के कारण शक्त्याश्रय का ग्रहण सम्भव नहीं हो सकेगा।[16] अत: वाक्यरूपरूषित किसी शाश्वत शब्द की स्थिति माननी पड़ेगी। इस समस्या के निवारण-हेतु वैयाकरणों ने जिस शाश्वत शब्द को स्वीकार किया है वही "स्फुटति अनुभवपथमारोहति अर्थोऽस्मात्" इस व्युत्पत्ति से लभ्य होने के कारण 'स्फोट' कहा जाता है और वही अर्थबोधक शक्ति का आश्रय है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

II

व्याकरणदर्शन में स्फोट वह सत्ता है जिससे जगत् का विवर्त होता है। उपहित चैतन्य या द्रष्टा तत्त्व के रूप में स्फोट शब्द और अर्थ का एकीभूत तत्त्व है। इसमें शब्दार्थ-सम्बन्ध तिरोहित रहते हैं। वाग्व्यवहार के उपयोगार्थ वैयाकरण बुद्धि-वृत्ति से उपहित व्यष्टि चैतन्य के उस भाग की स्फोटरूप में कल्पना करते हैं जो 'नाद' से व्यंजित होता है।

वैयाकरणों के अनुसार परमेश्वर की सिसृक्षात्मिका मायावृत्ति से बिन्दुरूप त्रिगुण उत्पन्न होता है। इसी को शक्तितत्त्व कहते हैं। बिन्दु का 'अचित्' अंश 'बीज' और 'चिदचित्मिश्रित' अंश 'नाद' कहा गया है। यहाँ चित् अंश से बिन्दु और अचित् अंश से उस अविद्या का अभिधान किया गया है जो शब्द तथा अर्थ की संस्कार रूप मानी जाती है।

नागेश के अनुसार इसी बिन्दु से शब्दब्रह्म नामक नाद उत्पन्न होता है। इस नाद में वर्ण और वाक्य का भान नहीं होता। इसका स्वरूप ज्ञान-प्रधान तथा सृष्टि के लिए उपयोगी अवस्था-विशेष से सम्पृक्त एवं चेतनतत्त्व से मिश्रित होता है। यही जगत् का उपादान कारण है और इसी को 'परा' शब्द से व्यवहृत किया गया है।

यद्यपि परारूप यह शब्दब्रह्म सर्वत्र व्याप्त रहता है तथापि इसकी अभिव्यक्ति प्राणियों के मूलाधार में संस्कृत पवन के चलने से होती है। नागेश ने वर्णोंच्चारण की इच्छा से उत्पन्न होने वाले प्रयत्न का वायु के साथ योग होने से ही पवन का संस्कार होना बताया है। इस संस्कृत वायु से अभिव्यक्त शब्दब्रह्म स्वप्रतिष्ठ होने से स्पंदन-रहित होता है। अत: 'परा' वाक् रूप में इसका अभिधान किया जाता है। भर्तृहरि भी वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में इसी तत्त्व को स्पष्ट करते प्रतीत होते हैं।[17]

परारूप यह शब्दब्रह्म जब अभिव्यक्त अवस्था में आ कर मन का विषय बनता है और उसका मानस-साक्षात्कार होता है तब 'पश्यन्ती' संज्ञा से उसका व्यवहार होता है। परा वाक् की सूक्ष्मतम अवस्था है, जबकि पश्यन्ती उससे अवर सूक्ष्मतर होती है। सूक्ष्मतम होने के कारण परा का साक्षात्कार योगियों की निर्विकल्पक समाधि का विषय है किन्तु सूक्ष्मतर होने के कारण पश्यन्ती का साक्षात्कार सविकल्पक समाधि में होता है।

नाभिचक्र से ऊपर आकर वही संस्कृत पवन हृदय देश में पहुँच कर पश्यन्ती को अभिव्यक्त करता है। अर्थविशेष तथा शब्द विशेष को प्रकाशित करने वाली बुद्धि से गृहीत होती हुई वाक् मध्यमा कहलाती है। यह श्रोता का विषय न बन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कर वक्ता ही का विषय बनती है। इसलिए सूक्ष्मा कहलाती है। वाक् की परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूप तीनों अवस्थाएं शब्दब्रह्म की सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म प्रणवरूप अवस्थाएं हैं।

मुखप्रदेश को आता हुआ वही संस्कृत वायु जब कण्ठ देश को प्राप्त कर मूर्धा को आहत करता है और ऊपर जाने का मार्ग न पाकर पीछे लौटता हुआ मुख के अन्तर्गत तालु, मूर्धा आदि स्थानों से उसी मध्यमा वाक् को अभिव्यक्त करता है तब श्रोता को सुनायी पड़ने के कारण यह वाक् 'वैखरी' संज्ञा प्राप्त करती है।

मध्यमा में जो चेतनरूप नादाँश है वही व्याकरणशास्त्र में 'स्फोट' कहलाता है। वही अर्थ का वाचक या प्रकाशक है। मध्यमा नाद से व्यंग्य यही 'स्फोट' शब्द नित्य एवं ब्रह्मरूप है।[18] यह एक एवं अखण्ड है। भाषा-व्यवहार के निर्वाहार्थ वैयाकरण इसी से अर्थबोध की कल्पना करते हैं। अतः वाक्यरूप अखण्ड-स्फोट ही शक्त्याश्रय सिद्ध हो जाता है।

यहाँ पूर्वपक्षी कह सकता है कि अन्वय-व्यतिरेक से वर्णों, पदों और वाक्यों की वाचकता सिद्ध हो जाने से 'स्फोट' जैसे तत्त्व की कोई आवश्यकता ही नहीं है, शक्ति-ग्राहक व्यवहार में जिज्ञासु को पदों के उन अर्थों की वाचकता का ज्ञान हो जाता है, जैसे 'घटम् आनय' इस वाक्य को सुनने के अनन्तर 'घट-आनयन' रूप कर्म को तथा उसके बाद 'पटम् आनय' इस वाक्य को सुनकर 'पट-आनयन' रूप कर्म को देखता हुआ वह अन्वय-व्यतिरेक से 'घट' शब्द से घट रूप अर्थ को तथा 'पट' शब्द से पट रूप अर्थ को समझने लगता है, यह ज्ञान शब्दों के उच्चारण के अनन्तर ही होता है। उनकी अनुच्चरित दशा में इसका भान सर्वथा असम्भव है। अतः वर्णों की वाचकता स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

इस पर वैयाकरणों का उत्तर यह है कि वर्णों के उच्चारण के बाद ही अर्थ-प्रतीति होती है तथापि उच्चारणमात्र से उनकी अर्थबोधकता सिद्ध नहीं हो जाती। स्फोटाभिव्यंजक रूप में ही अन्वय-व्यतिरेक द्वारा उनसे अर्थबोध होता है। अतः साक्षात् वर्ण वाचक न होकर उससे अभिव्यंग्य स्फोट ही वाचक होता है। कण्ठ, तालु आदि के अभिघात से व्यक्त ये वर्ण यद्यपि भिन्न-भिन्न होते हैं तथापि उनमें स्फोट-भेद सम्भव नहीं होता। जैसे मणि, कृपाण आदि व्यंजक भेदों के कारण एक होता हुआ भी मुख भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है उसी प्रकार व्यंजकों के भेद से एक और अखण्ड स्फोट में भेद-प्रतीति होती है।[19] अतः वर्णादि से व्यंग्य स्फोट ही अर्थ का वाचक है। इसी कारण वैयाकरणों ने इसकी द्विधा व्युत्पत्ति की है—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

1. स्फुटति अर्थ: अस्मात् इति स्फोट: (जिससे अर्थ स्फुटित होता है वह स्फोट है) और

2. स्फुट्यते वर्णै: इति स्फोट: (जो वर्णों से स्फुटित होता है वह स्फोट है)।

प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार वह वाचक है और द्वितीय के अनुसार व्यंग्य। अत: व्याकरणशास्त्र में इस स्फोट को निरवयव, नित्य एवं विभु तथा सभी प्रकार के वागर्थप्रपंच का उपादानभूत प्रणवरूप माना गया है।

III

वस्तुत: स्फोट की एकता और अखण्डता ही वैयाकरणों को अभीष्ट है तथापि व्यंजक उपाधि के भेद से उसमें भेदवत् प्रतीति होती है। भाषा में वर्ण, पद और वाक्य स्फोट के व्यंजक तत्त्व माने गये हैं। अत: इन्हीं के आधार पर कौंडभट्ट ने इसके आठ भेद दिखाये हैं—

1. वर्णव्यक्तिस्फोट
2. वर्णजातिस्फोट
3. सखण्डपदव्यक्तिस्फोट
4. अखण्डपदव्यक्तिस्फोट
5. पदजातिस्फोट
6. सखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोट
7. अखण्डवाक्यव्यक्तिस्फोट
8. वाक्यजातिस्फोट[20]

यहाँ ध्यातव्य है कि जिस प्रकार बालकों को वास्तविक कत्व आदि के बोधार्थ चक्षु-ग्राह्य लिपियों में श्रोत्रग्राह्य कत्व आदि का अभाव होने पर भी उसका प्रतिपादन किया जाता है, उसी प्रकार वास्तविक वाक्यस्फोट के बोधार्थ ही उपायभूत वर्णस्फोट आदि का प्रदर्शन किया गया है।[21]

जिस प्रकार पारमार्थिक ब्रह्मज्ञान के लिए आनन्दवल्ली में अपारमार्थिक ब्रह्मरूप अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय और आनन्दमय रूप पंचकोश उपाय-भूत होने के कारण दिखाये गये हैं तथा ब्रह्म-ज्ञान के लिए उनमें से पूर्व-पूर्व कोश की बहिरंगता तथा उत्तर-उत्तर कोश की अन्तरंगता कही गयी है उसी प्रकार पारमार्थिक स्फोटात्मक शब्दब्रह्म के ज्ञान के लिए उपर्युक्त वर्ण आदि आठ अपारमार्थिक स्फोटों का प्रतिपादन उपाय रूप में ही किया गया है। इनमें से वास्तविक स्फोट-ज्ञान के लिए पूर्व-पूर्व की बहिरंगता तथा उत्तर-उत्तर की अन्तरंगता समझनी चाहिए। वाक्यस्फोट की अन्य स्फोटों की अपेक्षा अन्तरंगता के कारण ही वैयाकरण इसे निष्कर्ष रूप में स्वीकार करते हैं। वस्तुत: निरुपाधिक निखिलनामरूपात्मक प्रपंच-कारणीभूत शब्दब्रह्म तो आठ स्फोटों से भिन्न ही है।[22]

'वर्णस्फोट' पद में प्रयुक्त 'वर्ण' शब्द यहाँ प्रत्येक वर्ण का वाचक न होकर प्रकृति और प्रत्यय का वाचक है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वर्णस्फोट के प्रत्येक वर्ण की वाचकता स्वीकार करने में आखिर क्षति क्या है? वैयाकरणों का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सीधा उत्तर यह है कि प्रत्येक वर्ण की वाचकता को एक बार अस्वीकृत कर चुकने के बाद उसकी पुन: स्वीकृति से 'अप्रसिद्धान्तापातप्रसंग' आयेगा। अत: वर्णस्फोट के वाचक प्रकृति और प्रत्यय ही हैं। इसकी कल्पना मात्र शास्त्रीय प्रक्रिया के निर्वाहार्थ की गयी है। **दाधाघ्वदाप्** और **अर्थवत्** आदि सूत्रों के भाष्य से यह पक्ष बहुश: प्रमाणित है तथा कैयट आदि के द्वारा समादृत है।[23]

प्रकृति और प्रत्यय रूप वर्णों की वाचकता सिद्ध हो जाने से उनके समुदाय रूप पद की वाचकता भी सिद्ध हो जाती है। पदस्फोट में प्रयुक्त पद-शब्द सुबन्त और तिङन्त-रूप पदों का बोधक है। 'हरेऽव' 'विष्णोऽव' इत्यादि वाक्यों में विभक्त पदों के ज्ञान की अव्यक्तता के कारण ऐसे स्थलों में पदस्फोट मात्र से अर्थबोध सम्भव न हो पाने के कारण वैयाकरण विशिष्ट वाक्य की वाचकता स्वीकार करते हैं। इन दोनों पक्षों का प्रतिपादन भाष्यकार पतंजलि ने "अथ गौरित्यत्र क: शब्द:? इस प्रश्न को उठा कर व्यक्ति, क्रिया इत्यादि के शब्दत्व का निराकरण करते हुए "जिसके उच्चरित होने से गलकम्बल, पूँछ, ककुद, खुर और सींग वाले पशु व्यक्ति का ज्ञान होता है वह शब्द है—यह समाधान देकर किया है।[24]

इसी प्रसंग में कैयट ने भी वैयाकरणों के वर्णव्यतिरिक्त पद और वाक्य की वाचकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि प्रत्येक वर्ण की वाचकता मानने में समस्या यह है कि उससे द्वितीयादि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायेगा। इससे बचने के लिए यदि उत्पत्ति पक्ष स्वीकार किया जाय तो वर्णों की युगपत् उत्पत्ति असम्भव होने से वह भी सम्भव नहीं हो पाता। इससे भी बचने के लिए अगर मीमांसक-सम्मत वर्णों की अभिव्यक्ति मान ली जाय तो समुदाय का अभाव होने से वहाँ भी शक्त्याश्रय की समस्या यथावत् बनी रहती है। अत: स्फोट की स्वीकृति दुर्वार हो जाती है।[25] इस प्रकार वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदस्फोट और अखण्डवाक्यस्फोट की सिद्धि भाष्यप्रमाण से हो जाती है।

यहाँ यह शंका स्वाभाविक है कि वर्ण आदि स्फोटों से अर्थ-प्रतीति सम्भव हो जाने से जातिस्फोट मानने की आवश्यकता क्या है? वस्तुत: अनन्त वर्णों, पदों और वाक्यों की वाचकत्व-कल्पना की अपेक्षा उनमें निहित जाति की ही वाचकता मानने में लाघव है, क्योंकि घट आदि शब्द अनन्त और व्यभिचारी हैं। अत: कौंडभट्ट ने जाति-रूप-रूषित स्फोट की वाचकता का पक्ष प्रस्तुत किया है।[26]

यहाँ कहा जा सकता है कि जाति-स्फोट पक्ष में जाति के प्रत्येक वर्ण में विद्यमान होने के कारण प्रत्येक वर्ण से अर्थबोध का प्रसंग आयेगा। इसके

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समाधान में वैयाकरणों का कहना है कि इस सम्प्रदाय में 'अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्य' जाति की ही वाचकता का सिद्धान्त स्वीकृत है।[27] अत: प्रत्येक वर्ण में जाति की विद्यमानता होने पर भी उससे अर्थप्रतीति मान्य नहीं है।

यहाँ पुन: यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि स्फोटवादियों के मत में स्फोट के वर्णरहित होने के कारण, गकार, औकार और विसर्जनीय रूप 'गौ:' पद ही उनके मत में सिद्ध नहीं होगा। अत: उसके जात्याश्रय होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके समाधान में यदि वैयाकरण कहें कि जिस प्रकार मुख में मणि, कृपाण, आदर्श आदि के धर्म भासित होते हैं उसी प्रकार स्फोट के वर्णव्यंग्य होने के कारण वहाँ वर्णप्रतिभास हो जाता है और पदनिष्ठ जाति सिद्ध हो जाती है, तो यह भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि व्यंजक वर्ण स्वयं आशु-विनाशी होने के कारण द्वितीय आदि वर्णों के उत्पत्तिक्षण में नष्ट हो जाते हैं। अत: गकार आदि वर्णों का एकत्र अवस्थान न होने से उनसे व्यंग्य स्फोट में भी उनका एक साथ प्रतिभास नहीं होगा।

प्रस्तुत प्रसंग में यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि स्फोट के एक होने के कारण 'गौ:' यह पदस्फोट भी एक ही होगा। व्यक्ति की एकता के जातिबाधक होने के कारण वहाँ जाति सिद्ध ही नहीं होगी। अगर किसी प्रकार वह सम्भव हो भी जाती है तो जिस प्रकार वर्णवाचकत्ववादी नैयायिकों के मत में पूर्व-पूर्व वर्णजनित संस्कार सहित अन्तिम वर्ण वाचक होता है उसी प्रकार आप स्फोटवादियों के मत में भी पूर्व पूर्व वर्णजनित संस्कार सहित अन्तिम वर्ण ही स्फोट-व्यंजक होगा और इस प्रकार दोनों मतों के समान हो जाने से वर्णवाचकता-वादियों के मत में भी कोई दोष नहीं आयेगा।

अथवा वर्णों की आशु-विनाशिता के कारण यौगपद्य असम्भव होने के कारण स्मृति में ही उनकी युगपत् प्रतीति मानकर स्मृत वर्णों को ही स्फोटव्यंजक मानने में कोई क्षति नहीं होगी।

उपर्युक्त समस्त तर्कों के निराकरण में वैयाकरणों का कहना है कि यह सत्य है कि एकवाक्यवृत्तिता के कारण 'गौ:' पद में गोशब्दत्व जाति नहीं है तथापि प्रत्येक पुरुष में कंठ, तालु आदि व्यंजक भेद से 'गौ:' इस पदस्फोट में भिन्न वर्ण-निबन्धना अनेकत्व प्रतीति हो जाती है। इसी क्रम में पदस्फोट की अनेकत्व प्रतीति में वहाँ जाति मानने में कोई बाधा नहीं आती। वह जाति महासत्ता रूप होने के कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अत: सर्वत्र ब्रह्म ही वाचक और वाच्य दोनों ही सिद्ध हो जाता है। गोत्व, अश्वत्व आदि सत्ता उसी महासत्ता के विवर्त हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अत: उसका वाचकत्व और वाच्यत्व अविद्याकृत ही माना जाता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने सम्बन्धी-भेद से ही गो आदि में सत्ता भेद माना है।[28]

इस प्रकार विविध सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए कौंडभट्ट ने स्फोट के आठ भेद बताये हैं। इस भेद-क्रम में उन्होंने भाष्य आदि को प्रमाण मानकर भापातत्त्वों की शास्त्राभिमत व्याख्या प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। शताब्दियों से उनका यह विवेचन वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त का प्रतिनिधि उपस्थापक रहा है। किन्तु इस शताब्दी के मूर्धन्य वैयाकरण आचार्य रामाज्ञा पाण्डेय ने कौंडभट्ट द्वारा कल्पित स्फोट-भेदों को शाब्दिक् सिद्धान्तों के विरुद्ध बताते हुए उनकी नयी संकल्पना प्रस्तुत की है। वस्तुत: श्री पांडेय जी ने स्फोट के मूलभूत ढाँचे में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया तथापि भेदों की अपनी नयी संकल्पना से पं. बदरीनाथ शुक्ल जैसे धुरन्धर नैयायिक तथा काशी की पांडित्य-परम्परा में अभिनव पाणिनि के रूप में विश्रुत आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी जैसे दो अन्य मनीषियों को अपनी ओर आकृष्ट किया। निस्सन्देह तार्किक होने के कारण आचार्य शुक्ल उनके विपक्ष में खड़े दिखते हैं और पाण्डेय जी के खण्डन के बहाने स्फोट की अभिव्यक्ति के बारे में प्रश्न उठाकर व्याकरणशास्त्र के मर्म पर कड़ा प्रहार करते हैं तथापि श्री पांडेय के भेदों की समीक्षा के सन्दर्भ में कुछ नये भेदों को जोड़कर पाण्डेय जी के मत को संशोधित भी करते हैं। आचार्यप्रवर त्रिपाठी जी का भेद-विवेचन पाण्डेय जी के मत के समर्थन में प्रस्तुत किया गया है। इस शताब्दी के इन तीनों मूर्धन्य मनीषियों की उपस्थापना के कतिपय अंशों का व्याकरणशास्त्र के आलोक में समीक्षण ही प्रस्तुत निबन्ध का प्रमुख विवेच्य विषय है, अत: इन आचार्यों की मान्यताओं की संक्षिप्त प्रस्तुति यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगी।

आचार्य पाण्डेय ने **वैयाकरणभूषणसार** की प्रभा टीका का आश्रय लेकर कौंडभट्ट के वर्णस्फोट का खण्डन किया है। वर्णस्फोट को स्पष्ट करते हुए प्रभाकर का कहना है—

"तथा पचति इत्यत्र 'पच्' इति प्रकृतिव्यङ्ग्य: 'ति' इति प्रत्ययव्यङ्ग्य: स्फोट: वर्णस्फोट:। तार्किकाणां मते यच्छक्तं पदमिति तद्व्यङ्ग्यस्फोटस्यैव शाब्दिकनये वर्ण-स्फोट शब्देन व्यवहार:।"[29]

अर्थात् 'पचति' इस पद में 'पच्' इस प्रकृति से व्यंग्य तथा 'ति' इस प्रत्यय से व्यंग्य स्फोट वर्णस्फोट है। तार्किकों के मत में जो 'शक्त पद' है उसी से व्यंग्य स्फोट शाब्दिक सम्प्रदाय में वर्णस्फोट शब्द से व्यवहृत होता है। निस्सन्देह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रभाकर वर्णस्फोट के शाब्दिक-सम्मत स्वरूप से पूर्णतः परिचित हैं और उसी को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने नैयायिकों के पद की अवधारणा को उदाहरण के रूप में लिया है। उनका आशय मात्र इतना है कि नैयायिक प्रकृति और प्रत्यय रूप जिस पदाँश को शक्त मानकर पद कहते हैं, वैयाकरण उसी से व्यंग्य स्फोट को वर्णस्फोट कहते हैं। हमारे अनुसार यह व्याख्या पूर्णतः निर्दुष्ट और पदार्थ को स्पष्ट करने में सर्वथा सफल है। किन्तु श्री पाण्डेय यहाँ नैयायिक और 'शक्तं पदम्' को सुनकर विदक गये और उन्होंने सिद्धान्तों पर ध्यान दिये बिना स्फोट-भेदों की निराधार संकल्पना प्रस्तुत कर दी।

पाण्डेय जी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—अस्यां स्थितौ वाक्यार्थज्ञानामस्माकं कृते वाक्यस्फोटस्य विलय एवं स्यात्। नापि 'पचति' इत्यादौ पदस्फोटव्यवहारः तथा चायं विभागो नहि युक्तियुक्तः।[30]

अगर नैयायिकों के 'शक्तं पदम्' को वर्णस्फोट मान लिया जायेगा तो इस स्थिति में वाक्य से ही अर्थ-बोध मानने वाले हम वैयाकरणों के लिए तो वाक्यस्फोट का विलय ही हो जायेगा। 'पचति' इस पद में पदस्फोट का व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। अतः यह विभाग युक्तियुक्त नहीं है।

पाण्डेय जी का अभिप्राय यह है कि नैयायिकों की पद की अवधारणा को अगर वर्णस्फोट मान लिया जायेगा तो प्रकृति और प्रत्यय में पद का व्यवहार होने लगेगा तथा 'रामः' और 'पचति' जैसे सुबन्त और तिङन्त पदों में नैयायिकों की दृष्टि से वाक्यव्यवहार होने लगेगा। अतः वैयाकरणों के निष्कर्षभूत वाक्यस्फोट का नैयायिकों के पद में विलय हो जाने से वह लुप्त ही हो जायेगा। पाण्डेय जी की यह धारणा नितान्त भ्रान्त है क्योंकि प्रभाकर ने उस प्रसंग में जो कुछ कहा है वह वर्णस्फोट के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ही कहा है। प्रकृति और प्रत्यय नैयायिकों के मत में शक्त हैं किन्तु वैयाकरणों के मत में उनका वह स्वरूप न होने से पाण्डेय जी जिस अनर्थ से भयभीत हो गये हैं वह नितान्त रज्जु में सर्प की प्रतीति के समान है। जिस प्रकार चन्द्र से उपमित कर देने से मुख चन्द्र नहीं हो जाता उसी प्रकार नैयायिकों की अवधारणा से उपमित होकर वर्णस्फोट पद नहीं हो सकता। अतः पाण्डेय जी की धारणा पूर्णतः निर्मूल है। तथापि इस विषमता को दूर करने के लिए पाण्डेय जी नागेश द्वारा निर्दिष्ट स्फोट के आभ्यन्तर्र और बाह्य रूप दो स्फोट स्वीकार करते हुए बाह्य स्फोट के व्यक्ति और जाति भेद मानते हैं। कौंडभट्ट के विचारों से नागेश की असहमति का वहाँ कोई संकेत भी नहीं है कि उन्हें इस पक्ष में दोषी ठहराया जा सके। उनके टीकाकार बालभट्ट भी कौंडभट्ट की सरणि का अनुसरण करते हुए ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इस तथ्य की व्याख्या करते हैं जिससे पाण्डेय जी पूर्णत: परिचित हैं, क्योंकि उसका उद्धरण वे अपने ग्रन्थ में देते हैं। तथापि नागेश के आभ्यंतर और बाह्य भेदों को अंगीकार करते हुए पाण्डेय जी कहते हैं कि यदि इनके जाति और व्यक्ति भेदों से अतिरिक्त भेदों को दिखाने का आग्रह है तो कल्पित पद और उनमें कल्पित प्रकृति-प्रत्ययों को लेकर व्याडि और वाजप्यायन के व्यक्ति और जाति रूप अर्थों को लेकर निम्नलिखित सोलह स्फोट भेद दिखाये जा सकते हैं—

1. प्रकृतिस्फोट 2. प्रत्ययस्फोट 3. प्रकृतिजातिस्फोट
4. प्रत्ययजातिस्फोट 5. अखण्डप्रकृतिस्फोट 6. अखण्डप्रत्ययस्फोट
7. वर्णस्फोट 8. वर्णजातिस्फोट 9. पदस्फोट
10. पदजातिस्फोट 11. अखण्डपदस्फोट 12. अखण्डपदजातिस्फोट
13. वाक्यस्फोट 14. वाक्यजातिस्फोट 15. अखण्डवाक्यस्फोट
16. अखण्डवाक्यजातिस्फोट[31]

कौंडभट्ट एवं पाण्डेय जी के स्फोट भेदों से यह स्पष्ट है कि कौंडभट्ट ने स्फोट-व्यंजक भेद से स्फोट-भेदों की स्थापना की है, जबकि पाण्डेय जी स्फोट-बोध्यार्थ भेद से भेदों का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने कौंडभट्ट के वर्णस्फोट को यहाँ प्रकृति और प्रत्यय रूप में पृथक् करके छ: भेदों में विभक्त किया है। कौंडभट्ट मात्र व्यक्तिस्फोट को सखण्ड और अखण्ड भेदों में विभक्त करते हैं, किन्तु पाण्डेय जी जाति को भी सखण्ड और अखण्ड भेदों में विभक्त करते हैं। इस प्रकार उनके मत में आठ भेद अधिक हो जाते हैं। पाण्डेय जी ने व्यक्तिपदार्थवादी की दृष्टि से जाति को और जातिपदार्थवादी की दृष्टि से व्यक्ति को व्यंग्य मानकर ही भेदों की संकल्पना प्रस्तुत की है।

पाण्डेय जी के उपर्युक्त स्फोट-भेदों की समीक्षा करते हुए आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने इस भेद-गणना में न्यूनता प्रतिपादित की है। उनके अनुसार श्री पाण्डेय द्वारा प्रतिपादित स्फोट-विभाग केवल व्यंजक भेद से स्फोट-भेदक जितनी दृष्टियाँ हो सकती हैं उन्हीं के आधार पर किया गया है। जाति आदि अन्य दृष्टियों से यदि यह विभाग किया जाय तो उनके इस स्फोट-भेद विवेचन में स्वयं न्यूनता दिखने लगती है, क्योंकि जातिपदार्थवादी के मत में व्यक्ति की तथा व्यक्तिपदार्थवादी के मत में जाति की उक्त स्फोट-भेदों से अवाच्यता रह जाने के कारण उनके द्वारा प्रयुक्त स्फोट-भेद दुर्घटित हो जाते हैं। श्री पाण्डेय ने प्रकृति और प्रत्यय के सखण्ड और अखण्ड भेद बताकर व्यक्तिस्फोट और जातिस्फोट के जो षोडश भेद बताये हैं उन्हें न्यून मानते हुए शुक्ल जी ने उनमें 'अखण्ड

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रकृतिजातिस्फोट' तथा 'अखण्डप्रत्ययजातिस्फोट' रूप दो और भेद जोड़ कर भेदों की कुल संख्या को अठारह तक पहुँचा दिया है।[32]

इस सिद्धान्त को गौरवयुक्त निरूपित करते हुए शुक्ल जी ने कहा है कि वाच्य और व्यंजक दोनों ही दृष्टियों से स्फोट-भेदों की कल्पना में एक दोष यह भी है कि वर्णवाचकतावादियों के मत में वर्ण आदि से व्यंग्य आठ व्यक्तिस्फोट तथा आठ जातिस्फोट मिलकर सोलह भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार जो अर्थगतजाति की वाचकता की तरह वर्णादिगतजाति की ही वाचकता मानते हैं उनके मत में वर्णादिगत आठ जाति-व्यंग्य व्यक्तिस्फोट तथा व्यक्तिस्फोट के संकलन से स्फोट के सोलह भेद बन जायेंगे। इस प्रकार वर्णादिव्यंग्य व्यक्तिजातिस्फोटों की कुल संख्या बत्तीस हो जाती है न कि सोलह। अतः वाच्यभेद से स्फोटभेदों को अस्वीकृत करके व्यंजकभेद से कौंडभट्ट द्वारा किया गया भेद-विधान ही समीचीन है।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा से पाण्डेय जी की रक्षा के लिए आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी यह कहते हुए स्फोटभेदों की इस शृंखला को बत्तीस तक पहुँचा देते हैं कि व्याकरणदर्शनभूमिका में दिखाये गये स्फोट के सोलह भेद संख्यानिर्धारणपरक न होकर उपलक्षणमात्र हैं। भेदों का विमर्श करें तो स्फोट के बाह्य और आंतर दोनों भेदों के निम्नलिखित सोलह-सोलह भेद होंगे—

1. एकवर्णरूपप्रकृतिस्फोट
2. एकवर्णरूपप्रत्ययस्फोट
3. अनेकवर्णवत्प्रकृतिस्फोट
4. अनेकवर्णवत्प्रत्ययस्फोट
5. अखण्डानेकवर्णवत्प्रकृतिस्फोट
6. अखण्डानेकवर्णवत्प्रत्ययस्फोट
7. एकवर्णरूपप्रकृतिजातिस्फोट
8. एकवर्णरूपप्रत्ययजातिस्फोट
9. अनेकवर्णवत्प्रकृतिजातिस्फोट
10. अनेकवर्णवत्प्रत्ययजातिस्फोट
11. पदस्फोट
12. अखण्डपदस्फोट
13. वाक्यस्फोट
14. अखण्डवाक्यस्फोट
15. अखण्डपदजातिस्फोट
16. अखण्डवाक्यजातिस्फोट[33]

इन्हीं बाह्यस्फोट भेदों को आन्तरस्फोट के पक्ष में भी परिगणित कर लेने से कुल बत्तीस भेद बन जाते हैं।

आचार्य पाण्डेय और आचार्य त्रिपाठी के भेदविवेचन में मौलिक अन्तर यह है कि पाण्डेय जी प्रकृति और प्रत्यय को पृथक् परिगणित करते हुए भी 'वर्णस्फोट' को पुनः परिगणित करते हैं, जबकि आचार्य त्रिपाठी प्रकृति और प्रत्यय को स्फोटभेदों में मानकर 'वर्णस्फोट' का पृथक् प्रतिपादन नहीं करते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रिपाठी जी के मन में भष्यसम्मत सिद्धान्तों के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रति आस्था है। इन दोनों ही आचार्यों ने अपने-अपने मतों की व्याख्या देने या उसे पल्लवित करने का कोई प्रयास नहीं किया। यद्यपि हमने ऊपर कहा है कि पाण्डेय जी **प्रभा टीका** में वर्णस्फोट के प्रसंग में नैयायिकों के 'शक्तं पदम्' की अवधारणा सुनकर केवल बिदक गये हैं। वस्तुत: इन भेदों की संकल्पना आवश्यक नहीं है तथापि उसका यहाँ शास्त्रमुखेन प्रतिपादन उचित और प्रासंगिक होगा।

IV

पाण्डेय जी का कौंडभट्ट से वैमत्य प्रथमत: 'वर्णस्फोट' को लेकर दृष्टिगोचर होता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि स्फोटभेदों के प्रसंग में 'वर्णस्फोट' शुद्ध वर्णों का वाचक न होकर प्रकृति और प्रत्यय-रूप पदैकदेश का वाचक है तथापि पाण्डेय जी इसे शुद्ध वर्णों का वाचक मानकर व्यवहृत करते हैं। पाण्डेय जी का वर्णस्फोट के प्रति आग्रह 'एऔच्' इस प्रत्याहार सूत्र के अथवा उभयत: स्फोटमात्रं निर्दिश्यते—'रश्रुते: लश्रुति: भवति' इस भाष्यवचन पर आधारित है। यहाँ भाष्यकार का आशय यह है कि 'कृपो रो ल:'[34] सूत्र में 'र:' और 'ल:' इन दोनों स्थानों में केवल स्फोट का निर्देश किया गया है कि 'कृप' धातु के ऋकार का अवयवभूत जो रेफ है उसे लकार हो जाय। फलत: 'कल्पते' और 'चक्लृपे' जैसे प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है।

पाण्डेय जी का इस भाष्यवचन को शुद्ध ऋकारादि वर्ण के रूप में व्याख्यायित करके उससे वर्णस्फोट की संकल्पना कर लेना उचित नहीं है। क्योंकि वहाँ रेफ से स्थानी रूप तथा लकार से आदेशरूप वर्णैकदेश का ग्रहण ही भाष्यकार को अभीष्ट है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कैयट ने उपर्युक्त भाष्यवचन में प्रयुक्त स्फोटमात्र शब्द से जातिस्फोट का ग्रहण किया है जिससे अन्तभूर्त तथा बहिर्भूत रेफ और लकार से व्यंग्य सामान्य का स्थानी और आदेश के रूप में ग्रहण हो जाता है। अत: स्पष्ट है कि 'रश्रुते: लश्रुति: भवति' यह भाष्यवचन शुद्ध वर्णस्फोट की सिद्धि में प्रमाण न होकर वर्ण से वर्णैकदेश के स्थानी और आदेश रूप में गृहीत होने में प्रमाण है। अत: उसे शुद्ध वर्णों के रूप में व्याख्यायित करना सम्प्रदाय-विरुद्ध है। इसी कारण प्रकारान्तर से पाण्डेय जी के स्फोटभेदों का समर्थन करते हुए भी अभिनव पाणिनिकल्प मनीषी आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी ने स्फोट-भेदों में वर्णस्फोट का पृथक् परिगणन नहीं किया। नागेश के अनुसार स्फोट के आंतर और बाह्य भेद से दो प्रकार बताते हुए त्रिपाठी जी ने दोनों के सोलह सोलह भेद दिखाते हुए भी वर्णस्फोट को पृथक् रूप से अपने भेदों में स्थान देना उचित नहीं समझा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पाण्डेय जी के मतानुसार यदि वर्णस्फोट के प्रत्येक वर्ण को वाचक मान लिया जाय तो प्रथम वर्ण से ही अर्थबोध हो जाने के कारण द्वितीय आदि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायेगा। वहाँ दूसरी समस्या यह भी आयेगी कि वर्ण के अर्थवान् हो जाने से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा को नहीं रोका जा सकेगा और 'धनम्' 'वनम्' जैसे शब्दों में आदि वर्ण की प्रातिपादिक संज्ञा हो जाने से प्रातिपादिकान्त न-लोप हो जाएगा जिससे 'ध' और 'व' रूप पद ही शेष बचेंगे। अतः 'हयवरट्' और 'अर्थवत्' सूत्रों में भाष्यकार ने शुद्ध वर्णों की वाचकता को निराकृत करके उनके समुदाय को अर्थवान् तथा अवयवों को अनर्थक निरूपित किया है। इसे और भी दृढ़ करते हुए एक वर्णरूप धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, निपात आदि को सामान्यवर्णों से पृथक् करने के लिए भाष्यकार ने उपदेश किया है "अर्थवन्तो वर्णाः, धातु-प्रातिपदिक-प्रत्यय-निपातानाम् एकवर्णानाम् अर्थ-दर्शनात्। धातव एक वर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते एति, अध्येति, अधीते। प्रातिपदिकान्ये-कवर्णानि अर्थवन्ति-आभ्याम्, एभिः, एषु। इससे यह स्पष्ट है कि भाप्यकार को प्रकृति और प्रत्यय रूप एक वर्ण की वाचकता अभीष्ट है, किन्तु शुद्ध वर्ण के रूप में उन्हें वाचक मानने में उनकी अभिमति नहीं है। निस्सन्देह पाण्डेय जी की वर्णस्फोट-संकल्पना उपर्युक्त अर्थवान् वर्णरूप धातु, प्रातिपादिक आदि से भिन्न है, क्योंकि उन्होंने इन्हें प्रकृति और प्रत्ययस्फोट मानकर वर्णस्फोट में पृथक् परिगणित किया है। उनके वर्णस्फोट का आशय शुद्ध ऋकारादि वर्णों में है। पाण्डेय जी के वर्णस्फोट में अभीष्ट इन वर्णों को यदि अर्थवाचक मान लिया जाय तो **'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'** सूत्र से 'अर्थवत्' विशेषण भी हटाना पड़ेगा। इस सूत्र में 'अर्थवत्' विशेषण के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए भाष्यकार ने कहा है—"अर्थवद् ग्रहणं किमर्थम्? अर्थवदिति व्यपदेशात् वर्णानां मा भूदिति।"[35] अर्थात् 'अर्थवत्' इस विशेषण के उपदेश से एकवर्णात्मक प्रातिपदिक से भिन्न अकार, ककार आदि वर्णों का ग्रहण यहाँ नहीं हो सकेगा। अतः पाण्डेय जी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने से न केवल भाष्यवचन के विरोध का सामना करना पड़ेगा अपितु सूत्रकार के अभीष्ट तथ्यों को भी तिरस्कृत करना पड़ेगा। वस्तुतः 'रश्रुतेः लश्रुतिः भवति' भाष्य को प्रमाण मानकर वर्णस्फोट की संकल्पना का प्रयास निरर्थक है, क्योंकि भाष्य में अनेकत्र ऐसे स्थल हैं जहाँ वर्णों की अर्थवाचकता का स्पष्ट निषेध है।

अपनी रक्षा के लिए पाण्डेय जी यदि यह पक्ष प्रस्तुत करें कि वर्णस्फोट के प्रथम, द्वितीय आदि वर्ण अर्थबोधक न होकर अर्थ-स्मारक हैं, इसका चरम वर्ण ही अर्थबोध कराता है तो प्रतिवर्ण से अर्थस्मरण मानना भी अनुभव-विरुद्ध होने

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

से वैयाकरणों को अभीष्ट नहीं है। अतः वर्णस्फोट पद से प्रत्येक वर्ण का ग्रहण न मानकर पदैकदेशरूप प्रकृति और प्रत्यय का ग्रहण मानना ही सम्प्रदाय के अनुरूप होगा। प्रभाकार के वचनों से आहत होकर स्फोट-सिद्धान्त को मूलोच्छिन्न करने की अपेक्षा स्वयं प्रभाकार के वचनों को समझने में ही लाघव होगा।

आचार्य पाण्डेय की भाँति आचार्य त्रिपाठी भी स्फोट-संख्या के व्यर्थ परिगणन में फँस गये हैं। यद्यपि पाण्डेय जी की भाँति उन्होंने 'वर्णस्फोट' का पृथक् परिगणन नहीं किया तथापि प्रकृति और प्रत्यय-स्फोट मानकर उनके भेदों की जो शृंखला उन्होंने प्रस्तुत की है वह भी निर्दुष्ट नहीं है। त्रिपाठी जी द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त भेदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कौंडभट्ट के वर्णस्फोट के स्थान पर प्रकृति और प्रत्यय-रूप भेद मानकर उन्हीं के मन्तव्य को व्याख्यायित करने का स्तुत्य उपक्रम किया है। प्रकृति और प्रत्ययों में भी एक वर्णात्मक और अनेकवर्णात्मक भेद दिखाकर उन्होंने 'इ' आदि एकवर्णात्मक तथा सनाद्यंतादिधातुरूप अनेक वर्णात्मक प्रकृति तथा इसी प्रकार के प्रत्ययों की स्फोटरूपता को प्रतिपादित किया है। इनका जाति और व्यक्ति-पक्ष की दृष्टि से विभाग करना भी शास्त्रसम्मत ही है, क्योंकि 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा.सू. 1.2.58) तथा 'सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ' (पा.सू.1.2.64) आदि सूत्रों के माध्यम से महा मुनि पाणिनि ने भी इन पक्षों का उल्लेख किया है, जिनका सिद्धान्तानुसारी व्याख्यान स्वयं पतंजलि ने भी किया है।

आचार्य त्रिपाठी की स्फोट-भेद-विषयक संकल्पना उस समय परम्परा के विरुद्ध दृष्टिगत होने लगती है जब वे अनेक वर्णात्मक प्रकृति और प्रत्यय-स्फोटों में सखण्ड और अखण्ड भेद दिखाने का साहस कर बैठते हैं। वास्तव में प्रकृति और प्रत्यय एकवर्णात्मक हों या फिर अनेकवर्णात्मक उनमें अर्थबोधकता सखण्डरूप में हो ही नहीं सकती। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए प्रभाकार ने कहा है—

"वर्णस्फोटस्य सखण्डाखण्डभेदेन द्वैविध्यं तु न। सुबन्त-तिङन्त—तदादिभिन्नस्य वाक्यभिन्नस्य च प्रकृति-प्रत्ययसमुदायरूपस्य प्रकृतिरूपस्य प्रत्यय रूपस्य चैकवर्णमात्रवर्णस्फोटघटकवर्णशब्देन ग्रहणात्।"[36]

अर्थात् जाति और व्यक्ति-भेद से द्विविध होता हुआ भी प्रकृति और प्रत्यय रूप वर्णस्फोट सखण्ड और अखण्ड भेद से दो प्रकार का नहीं है। सुबन्त-तिङन्त रूप पदभिन्न और वाक्यभिन्न प्रकृति और प्रत्यय की समुदाय रूप सनाद्यन्तादि प्रकृति, भू, पच्, इ आदि शुद्ध प्रकृति तथा सुप् आदि अनेक वर्णात्मक तथा एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्णात्मक प्रकृति और प्रत्ययों का ही यहाँ ग्रहण होता है जो सखण्ड रूप से अर्थबोधक नहीं है।[37] त्रिपाठी जी की वाच्य-भेदों की दृष्टि से स्फोट-भेदों की संकल्पना तो कथंचित् समझ में आती है, किन्तु उस दृष्टि से प्रकृति और प्रत्ययों की सखण्डता का सिद्धान्त स्पष्ट नहीं है। अतः आचार्य त्रिपाठी का अनेकवर्णात्मक प्रकृति और प्रत्यय स्फोटों को सखण्ड और अखण्ड भेद से विशिष्ट करना अपनी पुष्टि के लिए स्पष्टता एवं व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

वस्तुतः शास्त्र में प्रकृति और प्रत्यय रूप वर्णस्फोट की संकल्पना मात्र प्रक्रिया-निर्वाह के लिए की गयी है। वैयाकरणों को इनकी अर्थवाचकता अभीष्ट नहीं है। कल्पित प्रकृति और प्रत्ययों में अर्थ भी कल्पित ही होता है। अतः भूवादयो धातवः[38] जैसे सूत्रों की संगति सम्भव हो पाती है। अन्यथा धातुरूप प्रकृति की अर्थवाचकता के अभाव में उन्हें क्रियावाची मानना सम्भव न हो पाता। सनाद्यन्तादि प्रकृतियों में शुद्धप्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययमिश्रित प्रकृत्यर्थ की दृष्टि से भी उनके सखण्डत्व की संकल्पना यद्यपि गौरवग्रस्त होगी तथापि यदि आचार्य त्रिपाठी की अभिमति इस पक्ष में है तो उनके द्वारा प्रदर्शित भेदों में न्यूनता आ जायेगी और उन्हें प्रातिपदिकरूपप्रकृति, सन्नन्तप्रकृति, यङन्तप्रकृति आदि जैसे अनेक भेदों से विशिष्ट करना पड़ेगा। इस स्थिति में सनादि बारह[39] प्रत्ययों से युक्त प्रकृति में शुद्धप्रकृत्यर्थ और प्रत्ययमिश्रित प्रकृत्यर्थ आदि के लिए स्फोट-भेदों की पृथक् कल्पना यहाँ इसलिए आवश्यक हो जायेगी कि 'पच्' आदि शुद्ध प्रकृति सखण्ड रूप में अर्थबोधक नहीं हो सकती। अतः शुद्धानेकवर्णवत्प्रकृति, प्रत्ययमिश्रितानेकवर्णवत्प्रकृति आदि रूप से प्रकृति-पक्ष में तथा इसी प्रकार प्रत्यय-पक्ष में स्फोट-भेदों की संकल्पना करके शुद्ध प्रकृतिपक्ष में सखण्डत्व का वारण किया जा सकता है। यह अलग बात है कि यहाँ इससे कल्पना-गौरव-प्रसंग आ जायेगा।

वस्तुतः प्रकृति और प्रत्ययों में सखण्डत्व और अखण्डत्व की अवधारणा आचार्य त्रिपाठी की अपनी निजी अवधारणा न होकर आचार्य पाण्डेय की ही अवधारणा का विकसित स्वरूप है। उन्होंने प्रकृति और प्रत्ययों के अखण्ड और सखण्ड भेदों की संकल्पना प्रस्तुत करते हुए एक वर्णात्मक प्रकृति और अनेकवर्णात्मक प्रकृति तथा प्रत्ययों का विभाग नहीं किया था। आचार्य त्रिपाठी ने एकवर्णात्मक प्रकृति और प्रत्ययों में प्रच्छन्न संशोधन करते हुए ही अपने विभागों में अनेकवर्णात्मक प्रकृति और प्रत्ययों के अखण्ड और सखण्ड भेदों की संकल्पना की है। आचार्य बदरीनाथ शुक्ल ने भी श्री पाण्डेय की समीक्षा करते हुए प्रकृति और प्रत्ययों की सखण्डता और अखण्डता का निर्देश किया है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पण्डेय जी द्वारा प्रकृति और प्रत्यय पक्ष में प्रदर्शित छः स्फोटों को न्यून मानते हुए निम्नलिखित आठ भेद प्रस्तुत किये हैं—

1. सखण्डप्रकृतिस्फोट
2. सखण्डप्रकृतिजातिस्फोट
3. अखण्डप्रकृतिस्फोट
4. अखण्डप्रकृतिजातिस्फोट
5. सखण्डप्रत्ययस्फोट
6. सखण्डप्रत्ययजातिस्फोट
7. अखण्डप्रत्ययस्फोट
8. अखण्डप्रत्ययजातिस्फोट[40]

कौंडभट्ट के अनुसार स्फोटभेदों के परिगणन से वाक्यस्फोट के विलय की पाण्डेय जी की शंका भी यहाँ निर्मूल ही प्रतीत होती है। वास्तव में वर्ण और पदरूप स्फोट-विभागों के माध्यम से वैयाकरण वाक्यस्फोट का ही प्रदर्शन करते हैं, क्योंकि वही उनका निष्कर्षभूत तत्त्व है। वाक्यस्फोट के अन्तर्गत प्रयुक्त प्रकृति, प्रत्ययरूप वर्णों तथा सुबन्त, तिङन्तरूप पदों में भेद की संकल्पना न करते हुए ही वैयाकरण वाक्यस्फोट से वाक्यार्थबोध मानते हैं। इसी अखण्डता का निर्देश करते हुए भर्तृहरि ने कहा है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन।।[41]

आशय यह है कि शब्द का अर्थबोधरूप प्रमुख प्रयोजन वाक्य द्वारा ही सम्पन्न होता है। वर्ण या पद अर्थबोधक नहीं है। अतः वाक्य ही सत्य है। वर्ण या पद आदि उसके काल्पनिक विभागमात्र हैं। वाक्य में न तो पद होते हैं, न वर्ण और न वर्णों के अवयव। वह अखण्ड और नित्य होता है। अतः 'घटम् आनय' इस वाक्य के उच्चारण से श्रूयमाण वाक्यध्वनि यहाँ 'घटकर्मक-आनयन-कार्यत्वबोधक' न होकर उससे व्यंग्य स्फोट ही उसका बोधक है। अतः प्रकृति और प्रत्यय रूप वर्णस्फोट का नैयायिकों के पद से यथाकथंचित् साम्य होने पर भी पाण्डेय जी को वाक्यस्फोट का विलय नहीं मानना चाहिए था। वास्तव में नैयायिकों और वैयाकरणों का अर्थबोध विषयक सिद्धान्त केवल स्वरूपभेद पर आश्रित नहीं है। शाब्दबोध की उनकी अपनी अपनी प्रक्रिया है जो सैद्धान्तिक भेद पर आश्रित है। 'शक्तं पदम्' कहते हुए नैयायिक प्रकृति, प्रत्यय और प्रातिपदिक आदि को 'शक्त' तो मानते हैं किन्तु 'संस्कार-सहकृत-अन्त्य-वर्ण' की वाचकता मानने के कारण उनका वैयाकरणों से भेद स्वयं सिद्ध हो जाता है। उनसे भयभीत होने की अपेक्षा यही पूछना उचित था कि जब 'संस्कार-सहकृत अन्त्यवर्ण' ही आपकी दृष्टि में वाचक है तो 'शक्तं पदम्' का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। आपको तो अन्त्यवर्ण को ही शक्त मानना चाहिए।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वैयाकरणों की दृष्टि से तो वाक्यस्फोट स्वतन्त्र रूप से वाक्यार्थबोधक और साक्षात् व्यवहार प्रयोजक है। उन्होंने इसी वाक्यार्थ को प्रतिभा रूप माना है। वर्णस्फोट तथा पदस्फोट की वाक्यार्थबोध में चरितार्थता नहीं होती। वह तो वाक्यस्फोट द्वारा ही अधिगत होता है। यही भर्तृहरि की पदे न वर्णा विद्यन्ते आदि उपर्युक्त कारिका का आशय है। प्रकृति और प्रत्ययों के काल्पनिक होने पर भी उन्हें शशविषाणप्राय नहीं माना जा सकता। वह पंचकोशों की भाँति सद्-असद् विलक्षण हैं।[42] पाण्डेय जी इन तथ्यों की ओर ध्यान दिये बिना न्याय-वासना-वासित-अन्तःकरण से न्याय का ही विरोध कर रहे हैं। वस्तुतः वैयाकरणों की दृष्टि से पदस्फोट और वाक्यस्फोट दोनों परस्पर निरपेक्ष और भिन्न-भिन्न प्रयोजन-विषयक हैं। शक्तिग्रह के विषय में जिस प्रकार नैयायिकों का पद में ईश्वरेच्छा-विषयक विश्वास है उसी प्रकार वैयाकरणों का वाक्य से ही वाक्यार्थबोध पर विश्वास है। पद में ही मेरी इच्छा है, वाक्य में नहीं, यह बात ईश्वर स्वयं आकर नहीं कहता। अतः यदि पद में ईश्वरेच्छा है तो वाक्य में भी ईश्वरेच्छा है ही। इस प्रकार वाक्य से ही वाक्यार्थबोध मानना युक्तिसंगत और प्रामाणिक है। पाण्डेय जी की उसके विलय की शंका व्यर्थ है।

इस प्रकार स्वप्रकाश संवित् रूप अखण्ड स्फोट ही वाक्यार्थ का बोधक और वाक्यशक्ति का आश्रय है। वैयाकरणों को यद्यपि वाक्य की वाचकता ही अभीष्ट है तथापि उससे शब्दानुशासन के लिए वे वर्ण और पद स्फोटों का प्रदर्शन करते हैं, जिससे भाषा के घटक वर्ण और पद जैसे तत्त्व भी स्फोट के दायरे में आ जाते हैं और प्रकृति, प्रत्यय आदि भी प्रक्रिया स्थल में सार्थक बन जाते हैं तथा वर्ण से लेकर वाक्य तक भाषा के समस्त तत्त्वों में स्फोट-सिद्धान्त की व्याप्ति हो जाती है। इसी कारण इसकी ब्रह्मरूपता (सर्वरूपता) प्रसिद्ध है। वर्ण आदि समस्त भाषा-घटक तत्त्वों की स्फोटरूपता का संकेत भाष्य से ग्रहण करके ही भट्टोजिदीक्षित एवं कौंडभट्ट आदि ने वर्ण, पद और वाक्य-भेदों में उसे विभक्त किया है। स्वयं सूत्रकार की अभिमति का जाति और व्यक्ति पक्ष में संकेत पाकर नव्यवैयाकरणों ने पतंजलि भर्तृहरि आदि को प्रमाण मानते हुए जाति और व्यक्ति-भेदों तथा सखण्ड और अखण्ड भेदों से पुष्ट करके इस सिद्धान्त की उपस्थापना की है। उनके विरुद्ध रामाज्ञा पाण्डेय, रामप्रसाद त्रिपाठी तथा बदरीनाथ शुक्ल जैसे मूर्धन्य आचार्यों द्वारा किया गया उपक्रम परम्परा को पूर्णतः समेट पाने में समर्थ नहीं है। पाण्डेय जी का वर्णस्फोट पक्ष भाष्यकार के 'रश्रुतेः लश्रुतिः भवति' रूप जिस वचन पर आश्रित है वहाँ भाष्यकार वास्तव में वर्णों की अर्थरूपता का उतना स्पष्ट प्रतिपादन नहीं करते जितना कि 'हयवरट्'

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और 'अर्थवत्' आदि सूत्रों में उनकी अर्थवाचकता का निषेध करते हैं। वास्तव में 'अर्थवत्' सूत्र में 'वर्णानां मा भूदिति' कहकर वे प्रत्येक वर्ण की वाचकता का खुला बहिष्कार करके वर्ण शब्द से प्रकृति और प्रत्यय का ही ग्रहण सिद्धान्तित करते हैं। ऐसे में पाण्डेय जी का वर्णस्फोट के प्रति शुद्ध वर्णों के रूप में आग्रह होना परम्परा के अनुरूप नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार इन तीनों आचार्यों का प्रकृति ओर प्रत्ययपक्ष में अखण्ड और सखण्ड भेदों का प्रतिपादन करना भी युक्तियुक्त न होकर पुनर्व्यवस्थापन की अपेक्षा रखता है। इन भेदों के समर्थन में यदि परम्परा को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जा सके तथा इनकी स्वीकृति में आने वाली विप्रतिपत्तियों के निवारण पूर्वक यदि इनकी उपस्थापना की जा सके तो निस्सन्देह इन आचार्यों का यह उपक्रम इस शताब्दी की व्याकरणशास्त्र के लिए महान् उपलब्धि सिद्ध हो सकता है।

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
गणेश मार्ग, बापूनगर, जयपुर।

सन्दर्भ

1. वैयाकरणतां त्यक्त्वा विज्ञानान्वेषणेन किम्। भवतामप्रस्तुतेन न केवलमिहोदितम्।। शिववृष्टि 2.72 तथा वहीं पर वृत्ति—अर्थप्रतीतिहेतुसाधुशब्दानुशासनव्यापारमेव वैयाकरणत्वं त्यक्त्वा मोक्षप्रयोजनैः शास्त्रैः यत् सम्यग् ज्ञानमनुसरणीयं तदन्वेषणेन भवतां करणीयत्वेन अप्रस्तुतेन न किञ्चित्।"
2. अवङ्स्फोटायनस्य, पा.सू.6.1.1 2 3
3. वैयाकरणनागेशः-स्फोटायनऋषेर्मतम्। परिष्कृत्योक्तवाँस्तेन प्रीयतामुमया शिवः।। वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, ग्रंथांत मंगलाचरण।
4. ऋग्वेद 1.164. 39
5. निरुक्त 13.12.12 तथा 13.11.10
6. माण्डूक्य उपनिषद् 1.12
7. श्रीमद्भागवतमहापुराणम् 12.6.39-41

   ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वराट्
   यत् तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः।।
   शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
   येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः।।
   स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः।
   स मन्त्रोपनिषद्बीजं वेदबीजं सनातनम्।।

८ वहीं, श्रीधरी टीका—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कोऽसौ परमात्मा? तमाह शृणोतीति इमं स्फोटमव्यक्तमोङ्कारम्। ननु जीव एव तं शृणोतु? नेत्याह। सुप्तश्रोत्रे कर्णपिधानादिना अवृत्तिकेऽपि श्रोत्रे सति। जीवस्तुकरणाधीन-ज्ञानत्वान्न तदा श्रोता। तदुपलब्धिः तस्य परमात्मद्वारिकैव इति भावः।

9. यावद्‌गकारे वाग् वर्तते न तावदौकारे इति येनैव यत्नेनैको वर्ण उच्चार्यते तेनैव विच्छिन्ने तस्मिन् वर्णे उपसंहृत्य तं यत्नमन्यं यत्नमुपादाय द्वितीयः प्रवर्तते। **वैयाकरणसिद्धान्त-लघुमंजूषा**, सं. आचार्य रामप्रसाद त्रिपाठी, सं.सं. वि.वि. वाराणसी, 1990, प्रथमभाग, पृ. 257
10. न चोत्तरवर्णप्रत्यक्षकाले ... सरो रस इत्यादौ विशेषश्च। वहीं, पृ. 257
11. यद्वा पूर्व-पूर्व-वर्णजाः शब्दाः शब्दजशब्दन्यायेन चरमवर्णप्रत्यक्षपर्यन्तं जायमाना एव भवन्तीति न पदप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति वाच्यम्। वहीं, पृ. 257
12. आद्येऽयं पूर्वोऽयं पर इत्यभिलापासम्भवात् नष्टवद्यिमानयोः सम्बन्धिनोरव्यवहितोत्तरत्वस्य सम्बन्धतायाः वक्तुमशक्यत्वाच्च। वहीं, पृ. 257-58
13. वहीं, पृ. 258
14. अविद्यमाने आश्रयत्वाङ्गीकारे 'नष्टो घटो जलवान्' इत्यादेरापत्तेः। वहीं, पृ. 258।
15. अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्। वहीं, पृ. 258 में वाक्यपदीय से उद्धृत।
16. वहीं, पृ. 259
17. **वाक्यपदीयम्**—1.1

    अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
    विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
18. द्रष्टव्य, वही पृ. 269-280
19. भूषणसारपरमलघुमञ्जूषयोः सिद्धान्तानां समीक्षा, पं. राममनोहर मिश्र, सं.सं.वि.वि., वाराणसी, 1983, पृ. 213
20. **कौंडभट्ट, वैयाकरणभूषणसार, प्रभा-दर्पण-सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,** वाराणसी, 1969, पृ. 451
21. वहीं **प्रभा**—यथा बालानां वास्तविक कत्वादि बोधाय चक्षुर्ग्राह्यासु लिपिषु श्रोत्रग्राह्यकत्वाद्य-भावेऽपि कत्वप्रतिपादनम् तथा वास्तविकाखण्डस्फोट—बोधनायैते वर्णस्फोटादयोऽप्युपायभूता एव। तदुक्तं हरिणा—

    उपायाः शिक्षमाणानां बालानाम् अपलालनाः
    असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥
22. पञ्चकोशादिवत् तस्मात् कल्पनैषा समाश्रिता।
    उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः॥—**वैयाकरणभूषणसार**, का. 68
23. **महाभाष्यम्** 1.1.20, 1.2.45 एवं वहीं प्रदीप
24. **महाभाष्यम्, पश्पशाह्निक**, पृ. 7
25. वहीं, प्रदीप—वैयाकरणाः वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वम् इच्छन्ति। वर्णानां प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्य प्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात्, अभिव्यक्तिपक्षे तु क्रमेणैव अभिव्यक्त्या समुदायाभावात्. एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

स्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादावर्थप्रतिपत्त्यविशेषणप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचकः।

26. शक्यत्व इव शक्तत्वे जातेर्लाघवमीक्ष्यताम्। औपाधिको वा भेदोऽस्तु वर्णानां तारमन्दवत्।।
—(वैयाकरणभूषणसार, का. 71)

27. वाक्यपदीयम्—1.93
अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृताः।।

28. सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः।। (वाक्यपदीयम्, जाति. समु. का 33)

29. प्रभाटीका, पृ. 451

30. व्याकरणदर्शनभूमिका, पं. रामाज्ञापाण्डेय, सं.सं.वि.वि., वाराणसी, 1982, द्वि.सं., पृ. 28

31. वही, पृ. 24

32. स्फोटविस्फोटः, पं. वदरीनाथ शुक्ल, सरस्वती सुषमा, 12.2., पृ. 34-36

33. पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा, पं. रामप्रसाद त्रिपाठी, सं.सं.वि.वि. वाराणसी, 1972, पृ. 286.

34. पा.सू. 1.2.18.

35. महाभाष्यम्, पा.सू. 1.2.45.

36. वैयाकरणभूषणसार, प्रभाटीका, पृ. 448

37. वहीं, पृ. 451, प्रकृतिप्रत्यययोर्वर्णानां चावयवानामनर्थकतया न तत्र सखण्डस्फोटव्यवहारः।

38. पा.सू. 1.3.1

39. सिद्धान्तकौमुदी, तत्त्वबोधिनीटीका, सूत्र सं. 2304
सन्क्यच्काम्यच्क्यङ्क्यषोऽथाचारक्विप्णिज्यङौ तथा।
यगाय ईयङ्णिङ्चेति द्वादशामी सनादयः।।

40. सारस्वतीसुषमा, 12.2., पृ. 36

41. वाक्यपदीयम् 1.73

42. वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, सं. कालिकाप्रसा दशुक्ल, सं.सं. वि.वि. वाराणसी, 1977, पृ. 301—
न च प्रकृतिप्रत्ययविभागस्य काल्पनिकत्वे शशविषाणप्रायत्वम्, पञ्चकोशादिवदस्यापि सदसद्विलक्षणत्वात्। एवम् 'रेखागवयन्यायेनापि' शास्त्रमुपायः।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुस्तक-समीक्षा

प्रो. विश्वम्भर पाहि का नव्य वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श, लेखक प्रो. विश्वम्भर पाहि, प्रकाशक, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-2001

भारतीय दार्शनिक चिन्तन की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी तन्त्रबद्धता रही है। आरम्भ से ही यहाँ दर्शन के विभिन्न तन्त्र रहे हैं। हर तन्त्र के अपने कुछ मौलिक आधारभूत सिद्धान्त रहे हैं जो उस तन्त्र-परम्परा के सूत्र, भाष्य आदि के रचयिता आचार्यों के द्वारा पल्लवित-पोषित किये गये होते हैं और परम्परा के आचार्यों की उनमें अगाध निष्ठा होती है। इस अगाध निष्ठा से संवलित होकर इन तन्त्रों के आचार्य जहाँ एक ओर अपनी परम्परा से उठने वाले प्रश्नों का उत्तर देकर अपने तन्त्र को तार्किक मज़बूती प्रदान करते हैं वहीं तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ संगत रहकर परीक्षा के आधार पर अन्य सिद्धान्तों के परिष्कार, पुनर्निमाण अथवा अगत्या प्रत्याख्यान द्वारा अपने तन्त्र को और आगे बढ़ाते हैं। इस तन्त्रबद्धता के कारण आरम्भ में जहाँ भारतीय दर्शन का बहुत तेज़ी से विकास हुआ वहीं कालान्तर में हम पाते हैं कि इसके विकास की गति मानो ठहर सी गयी और विभिन्न दार्शनिक तन्त्र अपने में बंद होकर रह गये। दार्शनिक चिन्तन में आए इस ठहराव के क्या कारण थे यह विवाद का विषय हो सकता है, पर एक कारण जो निश्चित रूप से रहा है वह यह कि तन्त्र के अनुयायियों द्वारा उसके सिद्धान्तों के प्रति अविचारित निष्ठा की माँग तथा उन सिद्धान्तों के परिष्कार, पुनर्निर्माण अथवा प्रत्याख्यान की स्वतन्त्रता का अभाव उनका धर्म बन गया। परम्परा के प्रति निष्ठा तथा विचारक-केन्द्रित-स्वतन्त्रता के समन्वय से ही किसी तन्त्र का सहज विकास होता है। पर जब परम्परा के प्रति अविचारित निष्ठा की माँग होने लगती है तथा विचारक-केन्द्रित विचार-स्वातन्त्र्य की अवहेलना करते हुए सृजनात्मक स्वतन्त्रता का तिरस्कार होता है तथा परम्परागत सिद्धान्तों में परिष्कार, परिमार्जन और प्रत्याख्यान के प्रस्ताव को सर्वथा अमान्य कर दिया जाता है तो उस तन्त्र का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अन्य दार्शनिक तन्त्रों के समान न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी सिद्धान्तों के प्रति अविचारित निष्ठा की माँग करते हुए भासर्वज्ञ और रघुनाथ शिरोमणि जैसे दार्शनिकों द्वारा प्रस्तावित सिद्धान्तों के परिष्कार, परिमार्जन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अथवा प्रत्याख्यान के सुझावों को पूरी तरह खारिज कर दिया गया और उन्हें परम्परा-विरोधी घोषित कर दिया गया। परम्परा के प्रति इस अन्ध व्यामोह से अन्ततः न्याय-वैशेषिक दर्शन को ही हानि पहुँची और उसका सर्वतोमुखी विकास सम्भव नहीं हो पाया। **वैशेषिक पदार्थव्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श** ग्रन्थ में विश्वम्भर पाहि एक बार पुनः न्यायवैशेषिक परम्परा के मूलभूत सिद्धान्तों पर निष्ठा रखते हुए तन्त्र के सहज विकास में प्रतिबन्धक की भूमिका निभाने वाले कतिपय परम्परागत सिद्धान्तों की समीक्षा द्वारा यथावश्यक परिष्कार, परिमार्जन या प्रत्याख्यान द्वारा तन्त्र के सहज विकास के मार्ग को खोलने का दावा करते हैं। इस क्रम में प्रो. पाहि सर्वप्रथम तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के व्यावर्तन द्वारा परम्परा के प्रति वैचारिक निष्ठा को परिभाषित करते हैं और तत्पश्चात् तन्त्र के सहज विकास में प्रतिबन्धक सिद्धान्तों को चिह्नित कर उनका पुनर्समीक्षण करते हुए यथावश्यक खण्डन, परिष्कार या पुनर्निर्माण द्वारा तन्त्र के विकास के मार्गों को प्रशस्त करते हैं। स्पष्ट है कि इन सब के द्वारा प्रो. पाहि वैशेषिक दर्शन की परम्परा में उपेक्षित कर दिये गये भासर्वज्ञ एवं रघुनाथ शिरोमणी के अधूरे प्रयासों को आगे बढ़ाने की कोशिश करते हैं।

परंपरा के प्रति वैचारिक निष्ठा को परिभाषित करने के क्रम में सर्वप्रथम लेखक न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत पद्धतिमूलक ज्ञानमीमांसीय, तत्त्व-मीमांसीय एवं पुरुषार्थ-मीमांसीय सिद्धान्तों को व्यावर्तित करने का प्रयास करते हैं। पुस्तक के आरंभिक चार अध्याय इसी उद्देश्य को समर्पित हैं। आधारभूत सिद्धान्तों को व्यावर्तित करने के बाद लेखक के लिए यह आसान हो जाता है कि वह वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था को प्रस्तुत करे। पंचम अध्याय, जिसका शीर्षक 'वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था का परिचय' है, में लेखक यही करते हैं। वे वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था को समाहारेन प्रस्तुत करते हैं। छठवें अध्याय से अन्तिम दसवें अध्याय तक लेखक 'विचार-केन्द्रित विचारस्वातन्त्र्य' का उपयोग करते हुए वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था के उन सिद्धान्तों को पुनर्समीक्षित करने का प्रयास करते हैं जो उनकी दृष्टि में तर्क पर खरे नहीं उतरते। निश्चय ही यहाँ लेखक के आदर्श भासर्वज्ञ और रघुनाथ शिरोमणि हैं जिन्होंने अतीत में वैशेषिक पदार्थव्यवस्था के परिष्कार और पुनर्निर्माण का प्रयास किया था। इस सन्दर्भ में लेखक वैशेपिक दर्शन के परम्परागत मत को प्रस्तुत करते हुए भासर्वज्ञ और रघुनाथ शिरोमणि जैसे आचार्यों द्वारा प्रस्तुत एकदेशी मत की सम्परीक्षा करते हैं और अनुभव एवं युक्तियों के आधार पर इस बात को विवेचित करने का प्रयास करते हैं कि परम्परा के लिये कौन सी चीज़ें अतार्किक और फलतः त्याज्य हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ज़ाहिर है कि इस समस्त प्रक्रिया द्वारा लेखक वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था का जो चित्र प्रस्तुत करते हैं वह परम्परागत रूप से वैशेषिक ग्रन्थों में प्रस्तुत होने वाले चित्र से पूर्णतया भिन्न है। यह चित्र भासर्वज्ञ के **न्याय भूषण** अथवा रघुनाथ के **पदार्थ तत्त्व निरूपण** की परम्परा का है न कि वैशेषिक दर्शन की मूल परम्परा का। अब प्रो. पाहि की पुस्तक की यही कमी है। परम्परावादियों के लिये यह पुस्तक जहाँ वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था की विकृत प्रस्तुति मानी जाएगी वहीं परम्परा में परिष्कार और पुनर्निर्माण के आकांक्षी लोगों के लिये यह भासर्वज्ञ और रघुनाथ शिरोमणि के बाद परम्परा को पुनर्परिभाषित करने का सर्वाधिक तर्कसम्मत प्रयास माना जायगा।

पुस्तक का आरम्भ प्रो. पाहि भारतीय तत्त्वचिन्तन की प्रवाहित होने वाली विभिन्न धाराओं के संक्षिप्त परिचय और उसमें वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था के स्थान के निर्धारण से करते हैं। इस क्रम में प्रो. पाहि भारतीय तत्त्वमीमांसा को बौद्ध सन्तानवादी और वैदिक नित्यवादी धाराओं में वर्गीकृत करते हैं। प्रो. पाहि के अनुसार इस वैदिक नित्यवादी तत्त्वमीमांसा की धारा कालान्तर में दो धाराओं में प्रवाहित होने लगती है—एक याज्ञवल्कीय धारा और दूसरी काणादीय धारा। याज्ञवल्कीय धारा के दार्शनिकों की मूल मान्यता प्रो. पाहि **विषयी-विषय में भेद** या **आत्म-अनात्म में भेद** बताते हैं। नित्यवाद की इस याज्ञवल्कीय परम्परा के दर्शनों में वे वेदान्त के अद्वैत प्रस्थान, कपिल के सांख्य और पतंजलि के योग को रखते हैं। दूसरी ओर नित्यवाद की याज्ञवल्कीय परम्परा से भिन्न काणादीय परम्परा में वे कणाद के वैशेषिक, गौतम के न्याय, जैमिनि के मीमांसा को स्थान देते हैं। जैन और अद्वैतेतर वेदान्त-परम्पराओं को भी वे इसी वर्ग में रखते हैं। काणादीय परम्परा की मुख्य व्यावर्तक विशेषता वे **धर्मधर्मिभेद** की आधारभूतता में पाते हैं। यहाँ ध्यांतव्य है कि प्रो. पाहिकृत भारतीय तत्त्वमीमांसा का यह वर्गीकरण नितान्त मौलिक पद्धतिमूलक और स्वरूपतः तार्किक है। पहली बार किसी अध्येता ने भारतीय दार्शनिक चिन्तन को इस तरह शुद्ध तार्किक आधार पर वर्गीकृत किया है। अन्यथा इससे पहले तो विभाजन व वर्गीकरण का आधार आस्था या विश्वास, सम्प्रदाय-प्रवर्तकों के नाम आदि होते थे। यहाँ पर ज़रूरी नहीं कि सारे अध्येता इस वर्गीकरण से सहमत हों ही, लेकिन इससे तार्किक वर्गीकरण की प्रवृत्ति का विकास होगा, इसमें सन्देह नहीं।

यहाँ धर्मधर्मिभेद पर किंचित् विस्तार से चर्चा अपेक्षित होगी जिसे लेखक काणादीय तत्त्वमीमांसा की आधारभूत मान्यता के रूप में स्वीकार करते हैं और जिसे अपनी सम्पूर्ण ग्रन्थ-योजना में, अथवा कहें वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निर्माति में हमेशा केन्द्र में रखते हैं। कहा जा सकता है कि लेखक सम्पूर्ण वैशैषिक पदार्थ-व्यवस्था को धर्मधर्मिभेदमूलक आधारभूत मान्यता से निगमित पाते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रो. पाहि अपने इस विचार के लिये प्रो. डी.एन. शास्त्री के ऋणी हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम अपनी रचनाओं में न्यायवैशेषिक दर्शन की इस व्यावर्तक विशेषता को चिह्नित किया था। विभिन्न दार्शनिक तन्त्रों की परस्पर व्यावर्तक विशेषता क्या है—उनका कारणता-सम्बन्धी सिद्धान्त, आत्मा के सम्बन्ध में उनके विचार अथवा वस्तुजगत् के सम्बन्ध में उनके विचार? प्रो. डी.एन. शास्त्री का कहना है कि यह विशेषता धर्म-धर्मी के बीच के सम्बन्ध विषयक उनके विचार द्वारा अधिशासित होती है। न्यायवैशेषिक दर्शन धर्मधर्मि-भेद को स्वीकार करता है। इसके विपरीत सांख्य का सिद्धान्त धर्मधर्मि-तादात्म्य का है और बौद्ध धर्ममात्र-सद्भाव के सिद्धान्त को मानते हैं, जबकि वेदान्ती धर्मिमात्र सद्भाव के सिद्धान्त को। यह धर्मधर्मिभेद-सिद्धान्त न केवल सम्पूर्ण न्यायवैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था अपितु उसके कारणतादि अन्य दूसरे सिद्धान्तों का भी आधारभूत है। धर्मधर्मि-भेद के सिद्धान्त से तात्पर्य है कि धर्म और धर्मी, गुण और द्रव्य, अवयव और अवयवी भिन्न-भिन्न हैं। जब हम किसी वस्तु यथा घट, पट आदि को देखते हैं और उसके अन्दर रूप, स्पर्श, लम्बाई, चौड़ाई आदि अनेक गुणों को या हिलने-डुलने आदि की क्रिया देखते हैं तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या वह वस्तु जिसमें गुण, क्रिया आदि अनेक प्रकार के धर्म दिखते हैं वे धर्मी से भिन्न हैं? अर्थात् क्या पट और पट का रूप ये दोनों अलग-अलग वस्तुएँ हैं अथवा दोनों एक ही वस्तु हैं? नैयायिकों का उपर्युक्त समस्या के समाधान में कहना है कि 'पट' और 'पटरूप' तत्त्वतः दो भिन्न वस्तुएँ हैं, यद्यपि वे एक साथ पायी जाती हैं। वे दोनों इतनी भिन्न-भिन्न हैं कि इनके कारण भी भिन्न-भिन्न हैं। जिस प्रकार 'पट' 'पटरूप' से भिन्न है, उसी प्रकार पट में रहने वाली गति या क्रिया भी पट से भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार पट में रहने वाला पटत्व (सामान्य) भी पट से भिन्न है। इन रूप आदि धर्मों से भिन्न सर्वथा पृथक् 'घट' किस प्रकार की वस्तु है—इस पर न्याय कहता है कि 'रूप' आदि धर्मों से भिन्न धर्मी का अनुभव मनुष्य की सामान्य बुद्धि को साक्षात् रूप से होता है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार धर्मधर्मि-भेद न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय का आधारभूत सिद्धान्त है। यहाँ वेदान्ती, बौद्ध आदि कह सकते हैं कि यदि 'पट' और 'पटरूप' सर्वथा भिन्न वस्तुएं होते तो वे कभी तो गौ, अश्व के समान अलग-अलग पाये जाते! इस पर न्याय कहता है कि पट और पटरूप, द्रव्य और गुण, धर्मी और धर्म यद्यपि सर्वथा भिन्न वस्तुएं हैं परन्तु

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इनका यह भी स्वभाव है कि उनमें एक वस्तु ऐसी है जो दूसरी के बिना नहीं पायी जाती, अर्थात् 'पटरूप' पट के बिना कभी नहीं पाया जाता। ऐसी वस्तुओं के परस्पर सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय-वैशेषिक पहले तो दार्शनिक विश्लेषण के द्वारा एक साथ प्रतीत होने वाले 'द्रव्य' और 'गुण' या 'कर्म' को अलग-अलग कर देते हैं, फिर उनको जोड़ने के लिये 'समवाय' नामक एक नए सम्बन्ध (पदार्थ) की कल्पना करते हैं। बहरहाल, हम देख सकते हैं कि 'समवाय' का सिद्धान्त धर्मधर्मि-भेद-सिद्धान्त का अनुषंगी सिद्धान्त है। इसी तरह देखा जाए तो इस सिद्धान्त के आधार पर ही द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और समवाय पदार्थों की अवाप्ति होती है। यहाँ सहज ही प्रश्न उठता है कि न्याय-वैशेषिक दार्शनिक आख़िर क्यों द्रव्य और गुण, पट और पटरूप, जो वस्तुत: अलग-अलग नहीं प्रतीत होते, उनको अलग-अलग कहते हुए उन्हें तत्त्वत: भिन्न बतलाता है और द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय जैसे पदार्थों को अपनी पदार्थ-व्यवस्था में स्थान देता है? ज़ाहिर है कि बाह्य जगत् के अस्तित्व को मानने के लिये नैयायिकों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे धर्मधर्मि भेद को स्वीकार करें। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि बाह्यार्थवाद अथवा कहिये वस्तुवाद और धर्मधर्मि-भेद में कौन सिद्धान्त मौलिक व आधारभूत है? प्रो. पाहि के अनुसार यह धर्मधर्मि भेद होगा। धर्मधर्मि-भेद के आधार पर ही द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय जैसे पदार्थों की प्राप्ति होती है और असत्कार्यवाद जैसे कारणता-सिद्धान्तों का निगमन होता है। पर देखा जाए तो यदि हम आधारभूत सिद्धान्त वस्तुवाद को मानें तो जहाँ उससे हमे धर्मधर्मिभेद की भी प्राप्ति हो जाती है और फलत: द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय जैसे पदार्थों की स्वीकृति के पीछे का तर्क भी मिल जाता है, वहीं सामान्य और अभाव जैसे पदार्थों की स्वीकृति के पीछे का आधार भी स्पष्ट हो जाता है और सविकल्पक प्रत्यक्षवाद, प्रतिसन्धानवाद आदि की भी सम्यक् व्याख्या हो जाती है।

बाह्य जगत् की यथार्थता स्थापित करने के लिये सविकल्पक प्रत्यक्ष की यथार्थता आवश्यक है और उसकी यथार्थता के लिये यह आवश्यक है कि 'सामान्य' को बाह्य अस्तित्व रखने वाली वस्तु के रूप में माना जाए। इसलिये न्याय-वैशेषिक के अनुसार जब 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है तो उस ज्ञान में वस्तु का जो सामान्य रूप भासता है वह भी यथार्थ है, अर्थात् बाह्य जगत् में अस्तित्व रखता है। यहाँ प्रो. पाहि सप्रमाण यह सिद्ध करने में समर्थ होते हैं कि किस तरह आरम्भ में वैशेषिकों के लिये 'सामान्य' बाह्य पदार्थ न होकर एक मानस् पदार्थ था जो कि बुद्धि, अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा से माना गया था—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

मामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् (वै.सू. 1/2/3)। बाह्यार्थवाद की स्थापना के लिये यह आवश्यक हुआ कि कणाद के इस मानसिक 'सामान्य' को बाह्य सत् माना जाय। पर वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में 'सामान्य' का असली महत्त्व प्रो. पाहि इस बात में देखते हैं कि जाति रूपी सामान्य की नित्यत्वसिद्धि पर ही न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा का नित्यवाद अन्ततोगत्वा प्रतिष्ठित हो पाता है (देखें, पृ. 115)। इस सम्बन्ध में प्रो. पाहि परमाणु, मन, दिक्, काल, आकाश, आत्मा आदि के नित्यत्व की परीक्षा करते हैं जिनके आधार पर न्यायवैशेषिक अपने नित्यत्ववाद की स्थापना करता है और कहते हैं कि इन सबके नित्यत्व को लेकर कुछ न कुछ प्रश्न उठते हैं जिनका सम्यक् उत्तर नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः सामान्य की ही नित्यता न्यायवैशेषिक नित्यवाद की स्थापना के लिये अन्ततः प्रधान तर्क बनती है।

'नित्य-द्रव्य मात्र में वर्तमान स्वतोव्यावृत्त तत्त्व विशेष' को वैशैषिक विशेष कहते हैं। यह वैशेषिकों का स्वतन्त्र पदार्थ है। प्रश्न है, वैशेषिक आख़िर इसको स्वीकार करना क्यों आवश्यक मानते हैं? इसके उत्तर में आचार्यों का कहना है कि नित्य-द्रव्यों की परस्पर भिन्नता सिद्ध करने के लिये इसकी आवश्यकता है। जितने अनित्य द्रव्य हैं उनकी पारस्परिक भिन्नता उनके अवयवों, गुणों आदि की भिन्नता द्वारा उत्पन्न हो जाती है। परन्तु नित्य द्रव्यों की, खासकर परमाणुओं में पारस्परिक भिन्नता की व्याख्या किसी भी बाह्य आधार पर सम्भव नहीं है। अतः इन सब नित्य द्रव्यों में एक-एक विशेष की सत्ता मानी जाती है। नित्य द्रव्यों के भेदक ये विशेष आपस में भिन्न हैं, अर्थात् स्वयं स्वतोव्यावृत्त हैं। अब, रघुनाथ शिरोमणि और दूसरे नव्य नैयायिक 'विशेष' को स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं देखते। उनका कथन है कि यदि विशेष को स्वतोव्यावृत्त मानना ही है तो क्यों नहीं उन नित्य द्रव्यों, परमाणु आदि को ही स्वतोव्यावृत्त मान लिया जाए? अनावश्यक रूप से विशेष पदार्थ की कल्पना से क्या लाभ? अपनी पुस्तक के नवें अध्याय 'समवायनानात्व एवं अन्त्यविशेषविषयक विचार' में प्रो. पाहि वैशेषिकों के विशेष पदार्थ के उपर्युक्त खण्डन से अपनी पूर्ण सहमति व्यक्त करते हैं। प्रो. पाहि विशेष पदार्थ के खण्डन के लिये अपनी प्रखर तार्किक मेधा का उपयोग करते हुए ऐसे नवीन तर्कों की उद्भावना करते हैं जो रघुनाथ प्रभृति द्वारा भी अचिन्त्य रहे। (पृ. 277-283) निश्चय ही प्रो. पाहि यहाँ यह सिद्ध करने में समर्थ होते हैं कि **विशेष** पदार्थ को नित्य-द्रव्यों के भेदक के रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी अध्याय के प्रथम परिच्छेद में प्रो. पाहि **समवाय** पदार्थ की पर्याप्त परीक्षा करते हैं और अन्ततः यह पाते हैं कि एतद्विषयक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्राभाकर मीमांसक और रघुनाथ शिरोमणि का समवायनानात्व का मत अधिक तर्कसंगत है, भले ही इसमें लाघव नहीं दिखता हो। हाँ, नाना समवायों में रहने वाले समवायत्व को जाति कोटि में नहीं रखा जा सकता, वह तो एक अखण्डोपाधि के रूप में ही स्वीकार्य है।

अपनी पुस्तक के छठे अध्याय में प्रो. पाहि आकाश, काल एवं दिक् सम्बन्धी 'न्याय वैशैषिक मत' की विस्तार से सम्परीक्षा प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, परम्परागत न्यायवैशेषिक तत्त्वमीमांसा में आकाश, काल एवं दिक् ये तीन परस्पर स्वतन्त्र द्रव्यों के रूप में स्वीकृत हुए हैं। श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्य शब्द की गुणत्व सिद्धि के आधार पर शब्द के समवायिकारण के रूप में आकाश द्रव्य को सिद्ध किया गया है। इसी तरह दैशिक परत्व, अपरत्व, पूर्वपश्चिमादि विषयक प्रत्ययों के निमित्त कारण के रूप में दिक् द्रव्य स्वीकृत हुआ है तथा यौगपद्य, ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्वादि कालिक प्रत्ययों के निमित्त कारण के रूप में काल द्रव्य को स्वीकार किया गया है। जैसाकि हम जानते हैं, रघुनाथ शिरोमणि ने **पदार्थ-तत्त्वनिरूपण** में आकाश, दिक् एवं काल के स्वतन्त्र द्रव्यत्व का खण्डन किया है। प्रो. पाहि भी अपनी पुस्तक में ऐसा ही करते हैं। पर प्रो. पाहि आकाश के खण्डन के लिये प्रस्तुत रघुनाथ के तर्क को तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से अपरिपक्व और सतही पाते हैं, क्योंकि उनके अनुसार ये तर्क शब्द के स्वरूप, उत्पत्ति तथा सञ्चरण विषयक तथ्यों पर न आधारित होकर केवल ईश्वर की कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारणता तथा औपचारिक लाघवता मात्र पर आश्रित हैं। प्रो. पाहि आकाश के खण्डन के लिये सबसे प्रबल तर्क शब्द के स्पन्दत्व में पाते हैं और इस प्रकार एक बार स्पन्दत्व की सिद्धि हो जाने पर शब्दाश्रय के रूप में आकाश द्रव्य की सिद्धि का कोई औचित्य नहीं रह जाता। इसी तरह दिक् एवं काल के स्वतन्त्रद्रव्यत्व का खण्डन करते हुए प्रो. पाहि एतद्विषयक भासर्वज्ञ और रघुनाथ शिरोमणि के मतों की विस्तार से समीक्षा करते हैं। प्रो. पाहि का कहना है कि रघुनाथ द्वारा प्रस्तुत युक्तियाँ देश एवं काल विषयक प्रतीतियों के सूक्ष्म विश्लेषण पर आधारित न होने से भासर्वज्ञ द्वारा प्रस्तुत एतद्विषयक युक्तियों की तुलना में नितान्त सतही और महत्त्वहीन हैं। निश्चय ही प्रो. पाहि इस सम्बन्ध में भासर्वज्ञ से अधिक प्रभावित हैं। इस अध्याय के चतुर्थ परिच्छेद में प्रो. पाहि क्षण को एक स्वतन्त्र अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करने के रघुनाथ शिरोमणि के प्रस्ताव को अत्यन्त तर्कसम्मत और स्वीकार्य पाते हैं। प्रो. पाहि के अनुसार रघुनाथ प्रतिपादित यह मत वस्तुतः भासर्वज्ञ के कालविषयक मत का परिपूरक है। यह न केवल उससे संगत है अपितु उस विचार को आगे भी बढ़ाता है। इस

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रकार भासर्वज्ञ और रघुनाथ द्वारा प्रदर्शित मत पर चलते हुए प्रो. पाहि परम्परागत वैशेषिक के काल-सिद्धान्त के पुनर्निर्माण का प्रयत्न करते हैं। यह अध्याय इस कारण भी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें लेखक दिक् सम्बन्धी मत की परीक्षा करते हुए वैशेषिक पदार्थव्यवस्था में रेखागणित के लिये तत्त्वमीमांसीय आधार प्राप्त करने की कोशिश करते हैं।

गणितीय ज्ञान की दृष्टि से पुस्तक का अष्टम अध्याय विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस अध्याय में प्रो. पाहि समुच्चय (संघात, समुदाय) को स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में सिद्ध करते हैं। प्रो. पाहि का तर्क स्पष्ट है कि यदि धर्म-धर्मि-भेद पर वैशेषिक पदार्थव्यवस्था आश्रित है तो उसे समुच्चय को पदार्थ के रूप में स्वीकार करना होगा, क्योंकि समुदायियों से समुदाय भिन्न होता है। प्रो. पाहि का कहना है कि संघात पदार्थ लोकव्यवहार तथा शास्त्र दोनों में ही प्रसिद्ध है। नक्षत्र-पुञ्ज, धान्य-राशि, गज-यूथ आदि प्रसिद्ध सार्थक अभिव्यक्तियाँ संघातवाचक हैं। समूहालम्बन-ज्ञान के विषय के रूप में समुदायियों से भिन्न समुदाय रूपी स्वतन्त्र पदार्थ अवश्य स्वीकार्य है। प्रो. पाहि कहते हैं कि समुच्चय (समुदाय, संघात) रूपी स्वतन्त्र कोटि का पदार्थ न स्वीकार करने पर संख्याशास्त्र तथा गणितशास्त्र की अन्य शाखाओं के विषय रूपी पदार्थों के लिये तत्त्वमीमांसीय आधार प्रस्तुत करना सम्भव नहीं हो पायेगा। यहाँ ध्यातव्य है कि कणाद एवं प्रशस्तपाद संख्या को गुणकोटि के पदार्थों में अन्तर्भूत करते हैं। भासर्वज्ञ और रघुनाथ एतद्विषयक मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि संख्या गुणकोटि का पदार्थ नहीं है। इसी तरह पारम्परिक मत में परिमाण भी गुण कोटि का पदार्थ है। प्रो. पाहि आठवें अध्याय में समुच्चय के स्वतन्त्र पदार्थत्व को सिद्ध करते हुए परम्परागत संख्या तथा परिमाण सिद्धान्तों के पुनर्निर्माण का प्रयास करते हैं। उनका लक्ष्य भासर्वज्ञ के प्रयास को आगे बढ़ाते हुए परम्परागत वैशेषिक तत्त्वमीमांसा के संख्या एवं परिमाण विषयक सिद्धान्तों के लिये एक आधार प्रस्तुत करना है। इस आधार के लिये प्रो. पाहि कहते हैं कि तत्त्वमीमांसा में समुच्चय एवं परिमाण रूपी दो स्वतन्त्र पदार्थ-कोटियां स्वीकार करना आवश्यक है। यहां प्रो. पाहि यह दिखाने में भलीभाँति सक्षम होते हैं कि संख्या सम्बन्धी परम्परागत अपेक्षा-बुद्धिजन्यत्व विषयक मत न्यायवैशेषिक प्रमेय-स्वातन्त्र्यवाद से संगति नहीं रखता है। जैसाकि ऊपर संकेत किया गया है, इस अध्याय में प्रो. पाहि भारतीय दर्शन के अध्येताओं द्वारा प्राय: उपेक्षित गणितीय ज्ञान और उसके पदार्थों की समस्या को विश्लेषित करने का प्रयास करते हैं। यह प्रयास इसलिये और भी महत्त्व रखता है कि गणितीय तर्कशास्त्र के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रामाणिक विद्वान द्वारा परम्परा से प्राप्त एतद्‌विषयक तत्त्व को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि केवल यहीं ऐसा लगा कि किसी पश्चिमी परम्परा में प्रशिक्षित विद्वान द्वारा प्रस्तुत यह अध्ययन है, अन्यथा अन्यत्र तो पूरी तरह परम्परा में दीक्षित पण्डित की तरह ही लेखक ने शास्त्र को प्रस्तुत किया है, जिसके लिये लेखक वधाई के पात्र हैं।

पुस्तक का सर्वाधिक विवादास्पद अध्याय उसका चतुर्थ अध्याय है जिसमें प्रो. पाहि न्याय-वैशेषिक दर्शन की पुरुषार्थमीमांसीय मान्यताओं पर विचार करते हैं। यह अध्याय इसलिए अधिक विवादास्पद है कि यहाँ पुस्तक के शेष भागों में लेखक भले ही वैशेषिक दर्शन की मूल परम्परा का अनुसरण नहीं करते हों पर भासर्वज्ञ और रघुनाथ की एकदेशीय परम्पराओं का तो अनुसरण करते ही हैं, जबकि चतुर्थ अध्याय में हम देखते हैं कि लेखक विचारस्वातन्त्र्य का यथेच्छ उपयोग करते हुए भासर्वज्ञ और रघुनाथ के भी विपरीत जाते हुए वैशेषिक तत्त्वमीमांसा को इस रूप में प्रस्तुत करते हैं मानो वह वैदिक नित्यवाद की शाखा न होकर उच्छेदवाद या लोकायत मत की पदार्थ-व्यवस्था हो। यदि यह कहा जाए कि कर्मवाद, संसारवाद और पुनर्जन्मवाद के लिये वैशेषिक तत्त्वमीमांसा में कोई आधार नहीं बनता और कि उसमें नित्य आत्मा, ईश्वर या मोक्ष के लिये कोई स्थान नहीं है तो ऐसा दर्शन तो अन्ततः उसी उ 2च्छेदवाद के नज़दीक पहुँचाता है जिसका वैदिक शाश्वतवादियों ने विरोध किया था। चतुर्थ अध्याय में विद्वान लेखक ऐसा ही कहते हैं। वे पुरुषार्थमीमांसीय मान्यताओं को तलाशने के बहाने वैशेषिक-पदार्थव्यवस्था का ऐसा रूप प्रस्तुत करते हैं जिसमें आत्मवाद, ईश्वरवाद, मोक्षवाद के लिये कोई जगह नहीं है और जहाँ कर्मवाद, संसारवाद, पुनर्जन्मवाद लोकप्रतीति के विरुद्ध हैं। प्रो. पाहि कहते हैं कि कर्मवाद, संसारवाद एवं पुनर्जन्मवाद जैसी भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की साधारण मान्यताओं को सांस्कृतिक प्रभाव के कारण ही न्याय-वैशेषिक दर्शन में सर्वमान्यता प्राप्त है, न कि प्रमाणसिद्ध स्वतन्त्र आधारभूत पुरुषार्थमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में।" (पृ. 60) प्रो. पाहि कहते हैं कि कर्मवाद जगत् की कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता रूपी दो आधारभूत मान्यताओं पर आश्रित है। पर ये दोनों सिद्धान्त पुरुषार्थ-व्यवस्था में आदर्शरूप में ही स्वीकृत हो सकते हैं, तथ्यतः वे स्वीकृति नहीं किये जा सकते। कृत का प्रणाश और अकृत का अभ्यागम लोकप्रतीति में उपलब्ध ऐसा बलवत्तर तथ्य है जिसका शास्त्रकार द्वारा प्रत्याख्यान करना दोषावह होगा। वस्तुतः जगत् के वस्तुनिष्ठ धर्म के रूप में कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकते। अब इन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दो सिद्धान्तों (मान्यताओं) के असिद्ध हो जाने से कर्मवाद और उसके अनुषंगी संसारवाद का सिद्धान्त धराशायी हो जाता है। इसी तरह प्रो. पाहि न्यायवैशेषिक परम्परा में स्वीकृत जन्मान्तरवाद और अदृष्टकार्यतावाद की स्वीकृति के लिये कोई तार्किक आधार नहीं पाते हैं। कृतप्रणाशशून्यता और अकृताभ्यगमशून्यता के तथ्यपरक न होने से नित्य आत्मा की अवधारणा भी धाराशायी हो जाती है। प्रो. पाहि कहते हैं "आत्मा की नित्यत्वसिद्धि के लिये उपलब्ध युक्तियाँ मूल रूप में जगत् की कृतप्रणाश एवं अकृताभ्यागम-शून्यता पर आश्रित हैं। कृतप्रणाशशून्यता एवं अकृताभ्यागमशून्यता की तथ्यपरकता अस्वीकृत होकर केवल उनकी आदर्शस्वरूपता स्वीकृत होने पर पुरुष का नित्यत्व असिद्ध रह जाता है।" (पृ. 96) प्रश्न उठता है कि यदि पुरुष नित्य नहीं है तो फिर कैसा है? प्रो. पाहि उसे निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् शरीर-सन्तान के रूप में देखते हैं। वे कहते हैं "प्रतिसन्धान के आधार पर पुरुष का एकत्व, अक्षणिकत्व एवं ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं सुखदु:खादि का आश्रयत्व प्रमाणसिद्ध है। प्रतिसन्धान एवं कारकसिद्धान्तमूलक अनुमानों से पुरुष का शरीर, इन्द्रिय एवं मन से भेद सिद्ध होने पर भी निरन्तर परिवर्तनशील विभिन्न जैविक तन्त्रों के व्यूहबद्ध अवयवी सन्तान से पुरुष भिन्न है, यह सिद्ध नहीं हो पाता है" (पृ. 95)। अस्तु, प्रो. पाहि के मत में "तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से पुरुष शरीर रूपी अवयवी का निरन्तर परिवर्तनशील कारण-कार्यस्रोतापन्न सन्तान स्वरूप है।" पुरुष के इस स्वरूप को लेकर उठने वाली आपत्तियों को कल्पित कर प्रो. पाहि कहते हैं कि "प्रत्यभिज्ञा एवं स्मृतिमूलक पुरुष का सातत्य उसके सन्तान-स्वरूप से व्याहत नहीं होता है।" यही नहीं, आगे प्रो. पाहि कहते हैं—"परम्परा के प्रति आग्रह से प्रेरित न होकर लोकप्रतीति एवं यथोपलब्धि-व्यवस्थान्याय से नियन्त्रित रहने पर पुरुष का सन्तानस्वरूपत्व एवं अनित्यत्व न्यायवैशेषिक दर्शन के आधारभूत तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्तों के साथ विसंगत प्रतीत नहीं होते हैं।" (पृ. 96) स्पष्ट है प्रो. पाहि का उपर्युक्त स्वर बौद्धों जैसा लगता है। इस सम्भावित आपत्ति के मद्देनज़र प्रो. पाहि ग्रन्थ की भूमिका में ही स्पष्ट कर देते हैं कि उनके मत को बौद्ध मत से भ्रमित नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि वे सन्तानियों से अतिरिक्त सन्तान-धर्मी को स्वीकार करते हैं। अब भले ही प्रो. पाहि पुरुषविषयक अपने सन्तानवादी मत को बौद्धों से भिन्न दिखलाने में समर्थ हो जाएँ पर आपत्तियाँ यहां खत्म नहीं हो जाती हैं क्योंकि जिस रूप में प्रो. पाहि वैशेषिकों के आत्मा सम्बन्धी मत को प्रस्तुत करते हैं वह वस्तुत: देहात्मवादी परिवार का ही मत होकर रह जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न केवल नित्य आत्मा अपितु ईश्वर को भी प्रो. पाहि वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था में विजातीय तत्त्व के रूप में चिह्नित करते हैं। ईश्वर "पुरुषार्थों को जीवन में रूपायित करने की दिशा प्राप्त करने के लिये ध्रुव तारे की भूमिका तथा निरन्तर ऊर्ध्वगमन के लिये अक्षय प्रेरणा के स्रोत की भूमिका निभाने वाला तत्त्व है। परन्तु इस श्रद्धा एवं भक्ति की उत्पत्ति के लिये ईश्वर के विलक्षण पुरुषत्व को तथा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का वैचारिक प्रयास आध्यात्मिक परम्परा विशेष के प्रति आग्रह से प्रेरित बौद्धिक अहमिका एवं आत्मवञ्चन की अभिव्यक्ति मात्र प्रतीत होता है।" (पृ. 98-99) प्रो. पाहि कहते हैं "औपनिषदिक आत्मवाद एवं ईश्वरवाद के प्रभाव से तथा बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं के मध्य सीमा को सुस्पष्ट करने की आवश्यकता से ही आत्मा की नित्यता एवं ईश्वर विषयक मान्यताएँ न्यायवैशेषिक दर्शन में स्वीकृत हुई हैं, न कि परम्परा के आधारभूत पद्धतिमूलक, ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों से निष्कृष्ट होने के कारण।" (पृ. 60)

जिस प्रकार नित्य आत्मा और ईश्वर को वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था में स्थान देने के लिये प्रो. पाहि इच्छुक नहीं हैं उसी तरह वे मोक्ष को भी उसमें कोई स्थान नहीं देते। प्रो. पाहि पुरुष की चरम परिपूर्णता की सम्भावना तत्त्वज्ञान से उत्प्रेरित लोक-संग्रह के लिये निष्काम कर्मयोग में ही देखते हैं। पुरुष के कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व मिथ्याज्ञानमूलक नहीं हो सकते, ये तो सर्वलोकप्रतीतिसिद्ध हैं, फलतः उनके मिथ्यात्व की कल्पना अनुचित होगी। वास्तव में प्रो. पाहि यह मानने को तैयार ही नहीं कि सारी प्रवृत्ति दोषजन्य है। वे तो तर्क देते हैं कि राग-द्वेषप्रेरित प्रवृत्ति स्वाभाविक होने पर भी पुरुषनिष्ठकर्त्तृ का रमणीयतम पक्ष नहीं है, अपितु उसकी दीनता का परिचायक पक्ष है। जिस प्रकार सूर्य अपनी पूर्णता के कारण जगत् को स्वीय रश्मियों से उद्भासित करता है उसी प्रकार पुरुष अपनी आध्यात्मिक पूर्णता पर प्रतिष्ठित कर्त्तृत्वपक्ष युक्त होने के कारण भूतकल्याणकारी कर्म द्वारा जगत् को आप्यायित कर सकता है। सभी प्रवृत्तियों को मोहमूलक राग अथवा द्वेषजन्य एवं परम्परया मिथ्याज्ञानजन्य मानने पर अन्ततोगत्वा पुरुष के कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व को भी मिथ्याज्ञानमूलक मानना पड़ जाएगा। परन्तु पुरुष के कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व सर्वलोकप्रतीति-सिद्ध हैं। फलतः उनके मिथ्यात्व की कल्पना काणादीय परम्परा की तत्त्वमीमांसा के लिये सर्वथा विसंगत है। पुनश्च, प्राणिशास्त्रीय तन्त्रों के व्यूहबद्ध निरन्तर परिवर्तनशील प्राणवान् शरीर रूपी अवयवियों के कार्यकारण-स्रोतापन्न सन्तान-पुरुष के रूप में स्वीकृत होने पर तथा सन्तान-सन्तानियों से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अतिरिक्त तत्त्व के रूप में स्वीकृत होने पर पुरुष का नित्यत्व अनुपपन्न हो जाता है एवं साथ-साथ न्यायवैशेषिक दर्शन में अङ्गीकृत अपवर्ग निराधार हो जाता है।" (पृ. 100-101)

हम देखते हैं कि प्रो. पाहि 'विचारक केन्द्रित - विचारस्वातन्त्र्य' का उपयोग करते हुए वैशेषिक पदार्थ-व्यवस्था का ऐसा पुनर्निर्माण कर बैठते हैं जिसमें न तो नित्य आत्मा को, न ईश्वर को और न ही मोक्ष को कोई स्थान मिलता है और न ही उसमें कर्मवाद, संसारवाद और पुनर्जन्मवाद जैसे सिद्धान्तों के लिये कोई अवकाश रहता है। रघुनाथ शिरोमणि ने **पदार्थतत्त्व-निरूपण** के अन्त में पाठकों से अपने मत पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने की प्रार्थना की थी। यदि प्रो. पाहि के मत पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जाए तो हम देखते हैं कि उनकी दृष्टि मे उनका तर्क स्पष्ट है। उनका कहना है कि कहीं न कहीं ऊपर वर्णित सारे सिद्धान्त मूल पुरुषार्थमीमांसीय मान्यताओं पर आश्रित हैं। अब, दर्शन शास्त्रीय पद्धति की दृष्टि से प्रो. पाहि कहते हैं कि होना यह चाहिये कि पुरुषार्थमीमांसा का आधार तत्त्वमीमांसा हो नकि तत्त्वमीमांसा का निर्माण पुरुषार्थमीमांसीय मान्यताओं से प्रेरित होकर हो। यदि हमारी तत्त्वमीमांसा में कोई चीज़ ऐसी है जो पुरुषार्थमीमांसीय मान्यताओं किंवा आध्यात्मिक और सांस्कृतिक प्रभावों के कारण आयी है तो ऐसी चीज़ों का तत्त्वमीमांसा से बहिष्कार ही वरेण्य होगा।

अस्तु, हम देखते हैं कि **'वैशेषिक पदार्थ व्यवस्था का पद्धतिमूलक विमर्श'** वैशेषिक पदार्थों का महज़ पाण्डित्यपूर्ण विवेचन मात्र नहीं है। यह परम्परा की आधारभूत मान्यताओं के साथ संगति रखते हुए उन सिद्धान्तों के आवश्यकतानुसार प्रत्याख्यान, परिष्कार, पुनर्निर्माण का महत्त्वाकांक्षी प्रयास है जो सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरे। यद्यपि लेखक यह दावा करता है कि वह तन्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा से कोई समझौता नहीं करेगा पर वह अपनी सूक्ष्म मेधा और प्रखर तर्क शैली के आधार पर वैशेषिक दर्शन की जिस पदार्थ-व्यवस्था को प्रस्तुत करता है उसे शायद ही कोई वैशेषिक पहचान पाये। पर इससे लेखक का प्रयास न्यून नहीं हो जाता। हो सकता है कि भासर्वज्ञ और रघुनाथ को जो सफलता न मिली वह लेखक को मिले और भारतीय दर्शन की परम्परा में वैशेषिक दर्शन के माध्यम से एक नये युग का सूत्रपात हो।

आनन्द मिश्र,
दर्शन विभाग,
महात्मा गांधी गान्धी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी 221002

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान के प्रकाशन

चिद्विमर्श

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. दर्शन का आरंभ-बिन्दु : प्रत्यङ्मुख चैतन्य 2. मनुष्य और जगत् 3. आत्म और अनात्म 4. जगद्वासना 5. जगच्चैतन्य : चैतन्य का जगद्विवर्त 6. कला-सर्जन 7. धर्म-दर्शन 8. मनुष्य, इतिहास और समाज विषयक वैदांतिक अवधारणा 9. तुलनात्मक दर्शन की अवधारणा।

मूल्य 175.00

मूल्यतत्त्व-मीमांसा

(शंकर-पुरस्कार से सम्मानित)

यशदेव शल्य

विषय-सूची

1. तत्त्वमीमांसा का औचित्य : आत्मतत्त्वान्वेषण 2. सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा 3. मूल्य की वस्तुतंत्रता 4. धर्म-नीति का तत्त्व 5. धर्म-नीतिगत प्रामाण्य का स्वरूप 6. कला का अन्वेष्य-1 7. कला का अन्वेष्य-2 8. कलान्वेष्य सत्य का स्वरूप 9. ज्ञान और उसका अन्वेष्य 10. आत्मान्वेषण-1 11. आत्मान्वेषण-2 12. स्वातन्त्र्य। परिशिष्ट : लोकसाधन।

मूल्य 200.00

प्रमुख भारतीय और पाश्चात्य दर्शन-धाराएं

यशदेव शल्य - भगवती

विषय-सूची

1. ऐतरेय उपनिषद् : रूपक का दार्शनिक तात्पर्य 2. तैत्तिरीय उपनिषद् की तत्त्व-दृष्टि 3. सांख्य 4. शांकर अद्वैतवाद 5. वसुबन्धु का विज्ञानवाद 6. अपोहवाद 7. जैन अनेकान्तवाद और स्याद्वाद 8. डेकार्ट 9. इम्मेनुएल कांट 10. समकालीन पाश्चात्य अनुभववादी दर्शन : सर्वेक्षण।

मूल्य 250.00

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection